मान आदि हेतु श्रमशील होता है । तमोगुणजन्य 'स्थिति' की अवस्था में चित्तवृत्तियाँ अकर्मण्यता, आलस्य, प्रमाद और अज्ञान में लिप्त रहती हैं । तमस् के उद्रेक से अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य की वृद्धि होती है । सत्त्व के उद्रेक से सम्प्रज्ञात समाधि या योग और सत्त्वगुण के भी दूर जाने पर शुद्ध गुणातीत चित्त में 'असम्प्रज्ञात समाधि' का योग होता हैं । इस स्थिति में भी पूर्व संस्कार बीज पड़े रह जाते हैं । योग-साधना से योगी जब उन्हें भी दग्ध कर देता है, तब 'निर्बीज समाधि' या योग की सिद्धि होती है । यहाँ पुरुष केवल अपने चिन्मयानन्द स्वरूप में स्थित रहता है और कैवल्य-प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है । यही योग-साधना का परम उद्देश्य है ।

छन्दोबद्ध सार

योग है निरोध जिन चल चित्त-वृत्तियों का
बोध अब पहले मैं उनका कराता हूँ ।
सिन्धु में तरंग जैसे, मन में विचार वैसे
बार-बार उठा करते हैं, बतलाता हूँ ।
त्रिगुणों से प्रेरित असंख्य चित्त-वृत्तियाँ हैं
चंचल बनातीं चित्त सत्य समझाता हूँ ।
करतीं अशान्त-भ्रान्त-क्लान्त जीव को नितान्त
भूलता स्वरूप जीव, सत्य को सुझाता हूँ ।

विशेष—त्रिगुणों के विशेष ज्ञान के लिए गीता का चौदहवाँ अध्याय पठनीय है । यह पूरा-का-पूरा अध्याय तीनों गुणों के विवेचन को समर्पित हैं ।

तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किंस्वभाव ? इति–

चित्त के उस निरुद्धावस्था में रहने पर विषयाभाव होने के कारण बुद्धि (चित्त) का ही बोध या प्रतिबिम्ब ग्रहण करने वाला पुरुष किस प्रकार के स्वरूप वाला होता है, यह (निम्नांकित सूत्र में बताया गया है)—

⊛ योगसिद्धि का सर्वोपरि फल - स्वरूप में स्थिति ⊛

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥3॥

शब्दार्थ—तदा = तब । द्रष्टुः = द्रष्टा की । स्वरूपे = अपने रूप में । अवस्थानम् = स्थिति हो जाती है ।

सूत्रार्थ—तब अभ्यासपूर्वक समग्र चित्तवृत्तियों के पूर्ण निरोध होने पर असम्प्रज्ञात योग में 'निर्बीज समाधि' के सिद्ध हो जाने पर द्रष्टा पुरुष त्रिगुणातीत हो जाता है और अपने चिन्मयानन्द स्वरूप में उसकी अवस्थिति हो जाती है । यही स्थिति 'कैवल्य' प्राप्ति है, जो योग-साधना का सर्वोपरि लक्ष्य है ।

स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये । व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा ॥3॥

उस असम्प्रज्ञात योग की स्थिति में पुरुष की स्वरूप में प्रतिष्ठा हो जाती है, जैसी कि कैवल्यावस्था में अवस्थित रहने पर होती है । व्युत्थान काल में तो स्वरूप में प्रतिष्ठा होने पर भी पुरुष को स्वरूप की वैसी अनुभूति नहीं होती है ।

योगदीपिका

व्युत्थानकाल—भौतिकता पूर्ण बहिर्मुखी जीवन 'व्युत्थान' काल कहा जा सकता है । यहाँ असम्प्रज्ञात समाधि के सन्दर्भ में क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त के अतिरिक्त उसके पूर्ववर्ती 'सम्प्रज्ञात समाधि' काल को भी 'व्युत्थान' काल समझना चाहिए—'निरोधसमाधिमपेक्ष्य सम्प्रज्ञातोऽपि व्युत्थानमेव' (तत्त्वैशारदी, पृ. 19)

स्वरूप—पुरुष (आत्मा) चेतन, आनन्दमय है । प्रकृति का उत्पाद्य शरीर और उसके बाह्यकरण (स्थूल इन्द्रियाँ) और सूक्ष्मकरण (सूक्ष्म इन्द्रियाँ—मन, बुद्धि, चित्त अहंकार) जड़ हैं । अनादि अविद्या के कारण पुरुष अपने को प्रकृति से सम्बद्ध समझने की भूल कर बैठता है कि मैं 'दु:खी हूँ', 'सुखी हूँ', 'स्वस्थ हूँ', 'रोगी हूँ', 'मूढ़ हूँ', 'विद्वान् हूँ' आदि शरीर और मन के भाव अपने चेतन रूप पर आरोपित कर दु:खी होता रहता है । योगसाधना के निरन्तर दृढ़ अभ्यास से पुरुष को अपने चिन्मयानन्द स्वरूप का बोध हो जाता है । त्रिगुणातीत वह अपने को प्रकृति की मिलावट से दूर शुद्ध स्वर्ण की भाँति अपना पुरुष रूप पहचान लेता है । वह 'केवल' पुरुष है, चिन्मय है, आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । नित्य है, शुद्ध-बुद्ध आत्मा है—ऐसा उसे बोध हो जाता है । वह द्रष्टा या साक्षीमात्र है, सुख-दु:ख का भोक्ता नहीं है; यही आत्मज्ञान है और स्वरूप में अवस्थान है ।

'छन्दोबद्ध सार

सारी चित्तवृत्तियों का होता है निरोध जब,
निर्बीज समाधि तब शुद्ध लग जाती है ।
जीव जो कि द्रष्टा, सुख-दु:ख का न भोक्ता, उसे
होता है स्वरूप-बोध मुक्ति मुस्कराती है ।

प्रकृति के गुणजन्य बन्धन हैं छूट जाते,
केवल पुरुषरूप की छटा सुहाती है ।
चिन्मय स्वरूप शुद्ध में सुहाता भाता जीव,
कैवल्य से नाता जुड़ जाता, मुक्ति आती है ।

कथं तर्हि ? दर्शितविषयत्वाद्—

तो फिर किस रूप की (चित्तवृत्ति) होती है ? बुद्धि द्वारा दिखाये गये विषयों के अनुसार (होती है ।)

⊛ चित्तवृत्तियों के निरोध न होने के पूर्व की स्थिति ⊛

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥4॥

शब्दार्थ—इतरत्र = दूसरे समय में । वृत्तिसारूप्यम् = वृत्तियों के सदृश स्वरूप होता है ।

सूत्रार्थ—दूसरे समय में जब द्रष्टा पुरुष को स्वरूपज्ञान नही रहता है, वह अपनी चित्तवृत्तियों के अनुरूप स्वयं को अच्छा-बुरा, सुखी-दुःखी समझने लगता है ।

व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः । तथा च सूत्रम्– 'एकमेव दर्शनं, ख्यातिरेव दर्शनम्' इति । चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः । तस्माच्चित्त-वृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः सम्बन्धो हेतुः ॥4॥

व्युत्थानकाल में जैसी चित्तवृत्तियाँ होती हैं, पुरुष तदनुरूप उसी विशिष्ट चित्तवृत्ति में स्वयं को ढला हुआ पाता है । इस विषय में यह सूत्र भी है—चित्तवृत्तियों का और सम्बन्धित पुरुष का एकरूपता युक्त दर्शन होता है । चित्त अयस्कान्तमणि (चुम्बक) की भाँति पुरुष को अपने समीप पाकर उसे लोहे की भाँति अपनी ओर खींच लेता है । इस आकर्षण का कारण पुरुष और प्रकृति का अनादि सम्बन्ध है ।

योगदीपिका

ख्याति = बुद्धिवृत्ति । अयस्कान्तमणि = चुम्बक ।

चित्त जड़ प्रकृति का परिणाम है और पुरुष चेतन है । अविद्यावशात् पुरुष और प्रकृति में एक प्रकार का अभेद सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । बुद्धि जो अपनी विचारणा से निश्चय देती है, चित्त उसे सत्य मान लेता है । बुद्धि के निर्णय को सत्य मानकर पुरुष लोहे से खिंचे चुम्बक की भाँति झूठ को भी सत्य मानकर बन्धन में

पड़कर स्वयं को कभी मूर्ख, कमी विद्वान्, कभी ऊँचा, कभी नीचा और न जाने क्या-क्या मान बैठता है । तुलसीदास ने इसका बड़ा सटीक चित्रण किया है—

कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी ।
कबहुँ मूढ़, पण्डित विडम्बरत, कबहुँ धर्म रत ज्ञानी ।।
कबहुँ देव जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासै ।
संसृति-सन्निपात दुःख दारुन बिनु हरिकृपा न नासै ।। (विनय-पत्रिका)

छन्दोबद्ध सार

चित्त न निरुद्ध हुआ, योग जो न सिद्ध हुआ,
जैसी चित्तवृत्ति वैसा जीव बन जाता है ।
भूल चिदानन्दरूप भव कूपमध्य जीव,
झूठ ही को सत्य मान जीवन बिताता है ।
चित्त अपने विचित्र रूप दिखलाता, फिर
भटकता जीव कष्ट विविध उठाता है ।
कभी भूप रूप धर शासन चलाता, कभी
दीन-हीन रंक बना आँसुवें बहाता है ।

विशेष—महर्षि पतञ्जलि ने इन्हीं चार सूत्रों में सम्पूर्ण योगसार समाहित कर दिया है । आगे के सूत्रों में इन्ही प्रारम्भिक चारों सूत्रों के ज्ञान का विस्तार है ।

ताः पुनर्निरोद्धव्या बहुत्वे सति चित्तस्य—

वे निरोध करने योग्य चित्त की वृत्तियाँ बहुत होने पर भी—

⊙ चित्तवृत्तियों का क्लिष्टाक्लिष्ट रूप में भेद-कथन ⊙

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ।।5।।

शब्दार्थ—क्लिष्टाक्लिष्टाः = क्लिष्ट और अक्लिष्ट । वृत्तयः = वृत्तियाँ । पञ्चतय्यः = पाँच प्रकार की हैं ।

सूत्रार्थ—यों तो चित्तवृत्तियाँ असंख्य हैं, किन्तु सूत्रकार ने उन्हें पाँच श्रेणियों में विभक्त कर 'क्लिष्ट' और 'अक्लिष्ट' भेद से उनका स्वरूप निर्धारित किया है । जो योगसाधना में बाधक हों, वे 'क्लिष्ट' और जो साधक हों, वे 'अक्लिष्ट' हैं ।

क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचय क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः । ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः, क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः, क्लिष्टच्छिद्रे-

ष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति । अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति । तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते, संस्कारैश्च वृत्तय इति । एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते । तदेवम्भूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति । ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः ॥5॥

जिन वृत्तियों के कारण अविद्यादि क्लेश हैं और जो पापकर्म और शुभ सकाम कर्मों को उत्पन्न करती हैं, वे वृत्तियाँ 'क्लिष्ट' हैं । जो वृत्तियाँ विवेकख्याति को उत्पन्न करती हैं तथा गुणों को जन्म देने की सामर्थ्य को विनष्ट करती हैं, वे वृत्तियाँ 'अक्लिष्ट' हैं । क्लिष्ट वृत्तियो के प्रवाह में पड़कर भी ये वृत्तियाँ अक्लिष्ट ही रहती है (क्लिष्ट नहीं) । क्लिष्ट वृत्तियों के बीच-बीच में उभरी हुई अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट ही रहती हैं । अक्लिष्ट वृत्तियों के कार्यकाल में क्लिष्ट वृत्तियाँ आ जाती हैं, तो भी वे क्लिष्ट ही रहती हैं (अक्लिष्ट नहीं हो पातीं) । जिस प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं, उसी प्रकार के संस्कारों को उत्पन्न करती हैं । इस प्रकार वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं । इस रूप में वृत्ति और संस्कारों का चक्र सतत क्रियाशील रहता है । गुणाधिकार की समाप्ति अर्थात् विक्षेप बीज से विहीन हो जाने पर निरुद्ध चित्त स्वरूप में अर्थात् विशुद्ध आत्मतत्त्व ज्ञान में अवस्थित हो जाता है अथवा परमार्थ सिद्धि में विलय को प्राप्त हो जाता है । ये क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं ।

योगदीपिका

सत्त्व, रजस्, तमोगुण जन्य चित्तवृत्तियाँ अज्ञानमूलक हैं । योग में इनका निरोध आवश्यक है । ये वृत्तियाँ जब अधर्म और वासनाओं को जन्म देती हैं, तब 'क्लिष्ट', अन्यथा जब ख्याति (विवेकबुद्धि) को जन्म देकर ज्ञानवैराग्य के संस्कार को दृढ़ करती हैं, तब 'अक्लिष्ट' कहलाती हैं । इन वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं । इस प्रकार वृत्ति और संस्कारों का यह चक्र अहर्निश (निरन्तर) चलता रहता है । अभ्यास-वैराग्य द्वारा वृत्ति-निरोध की अवस्था में यह चक्र मात्र संस्काररूप में अवशिष्ट रह जाता है । धीरे-धीरे अभ्यास के अधिक बढ़ जाने और चित्त के गुणातीत हो जाने पर इन कर्मसंस्कारों के भी क्षय हो जाने पर उनके आत्यन्तिक विलय पर **'विदेह कैवल्य'** की प्राप्ति होती है । साधक को चाहिए कि इस वृत्ति और संस्कार-चक्र को भलीभाँति समझे । 'क्लिष्ट' वृत्तियों को 'अक्लिष्ट' वृत्तियों से हटाये, पश्चात् अक्लिष्ट वृत्तियों का निरोध कर सञ्चित संस्कारों की छाप को मिटाये और चित्त को पूर्ण निर्मल कर 'कैवल्य' पद प्राप्त करे ।

छन्दोबद्ध सार

क्लिष्ट-अक्लिष्ट वृत्तियाँ जो गुण प्रेरित हैं
उठतीं निरन्तर तरंग के समान हैं ।

वृत्ति संस्कार, संस्कार वृत्तियाँ बनायें
चक्र यह रहता सतत गतिमान है ।
अभ्यास वैराग्य द्वारा इनका निरोध करो
आत्मज्ञान शोध करो, मुक्ति का विधान है ।
प्रथम अक्लिष्ट से मिटाओ क्लिष्ट वृत्तियों को
योग को जगाओ, मोक्ष करता प्रदान है ।

⊛ वृत्तियों के नाम ⊛

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥6॥

सूत्रार्थ—वृत्तियाँ मुख्यरूप से पाँच हैं, जिनके नाम निम्नवत् हैं—1. प्रमाण, 2. विपर्यय, 3. विकल्प, 4. निद्रा, 5. स्मृति ।

छन्दोबद्ध सार

प्रमाण, विपर्यय, निद्रा, स्मृति औ विकल्प ये पाँच ।
चित्तवृत्तियाँ जीव को सदा नचातीं नाच ॥
इन पाँचो की परिभाषा कर, देता आगे ज्ञान ।
क्लिष्ट अक्लिष्ट भेद कर इनको लो तुरन्त पहचान ॥

तत्र-

वहाँ इन पाँच प्रकार की वृत्तियों में से—

⊛ प्रमाणवृत्ति के भेद और परिचय ⊛

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥7॥

सूत्रार्थ—'प्रमाण' वृत्ति के तीन भेद हैं—1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. आगम (इसकी व्याख्या आगे की जायेगी) ।

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः । बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः । अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्, यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः । आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः

परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये शब्देनोपदिश्यते । शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतु-रागमः । यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते । मूल-वक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात् ॥7॥

इन्द्रिय प्रणाली के माध्यम से चित्त के बाह्य वस्तु के सम्पर्क में आने पर, तद्विषयक ज्ञान की विशेष अवधारण करने वाली चित्तवृत्ति 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है । उस प्रमाण के समान रूप वाला पौरुषेय बोध ही इस प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है । अर्थात् यही बोध 'प्रमा' अथवा ज्ञान है । पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदन करने वाला होता है; इसे आगे समझायेंगे।

अनुमेय के सजातीयों में रहने वाला और उसके विजातीयों में न रहने वाला जो सम्बन्धित लक्षण है, तन्मूलक अर्थात् उस ज्ञान से उत्पन्न होने वाली और पदार्थ के सामान्य अंश का मुख्यरूप से ग्रहण करने वाली चित्तवृत्ति अनुमान है । जैसे—चन्द्र और तारे गतिमान् हैं, क्योंकि वे भिन्न देशों में देखे जाते हैं । इससे सिद्ध हुआ जो भिन्न-भिन्न देशों में पहुँच जाता हैं, वह गतिमान् होता है, जैसे चैत्र नाम वाला व्यक्ति जो भिन्न देशों में पहुँचा रहता है, वह गतिमान् है । जो गतिमान् नहीं होता, वह भिन्न देशों में पहुँचा हुआ नहीं देखा जा सकता है; जैसे विन्ध्यपर्वत । आप्त पुरुषों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत अथवा अनुमित अर्थ को उपदेश द्वारा पहुँचाया जाता है, तो वहाँ पर सुनने से कथित विषय का जो ज्ञान श्रोता में संक्रमित होता है और उससे ज्ञान-विषयक जो चित्तवृत्ति बनती है, वह 'आगमप्रमाण' कहलाती है । जिस 'आगम-प्रमाण' का वक्ता अश्रद्धेय बात को कहने वाला हो, वह आगम भ्रष्ट अर्थात् अप्रामाणिक होता है । मूल वक्ता के दृष्टानुमितार्थ होने पर 'आगम-प्रमाण' निर्भ्रान्त होता है ।

योगदीपिका

प्रमाण वृत्ति के तीन भेद हैं—1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान और 3. आगम ।

1. **प्रत्यक्ष**—इन्द्रिय प्रणाली (System) से जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है । नेत्र, जिह्वा, कर्ण, नासिका, त्वचा से अनुभूत दृष्ट पदार्थ, स्वदित पदार्थ, सुनी हुई साक्षात् वस्तुएँ, सूँघी और स्पर्शजनित वस्तुओं के साक्षात् अनुभव 'प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति' हैं । इन्द्रिय के माध्यम से साक्षात्कार की गयी प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बन्धी वृत्तियाँ यदि वैराग्यवर्धक और साधना में सहायक हों, तो 'अक्लिष्ट' अन्यथा 'क्लिष्ट' हैं ।

2. **अनुमान**—जिस वस्तु का अनुमान किया जाता है, वह 'अनुमेय' है । प्रत्यक्ष को देखकर परोक्ष विषयक ज्ञान की अवधारणा को अनुमान प्रमाण कहा जा सकता है । नदी में बढ़ते जल से कहीं दूर देश में वर्षा होने का निश्चय 'अनुमान' कहा जा सकता है ।

भाष्यकार व्यास ने अनुमान का उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—जहाँ-जहाँ देशान्तर में पहुँचना देखा जाता है, वहाँ-वहाँ गतिमत्ता होती है। अनेक स्थानों पर पहुँचने के कारण चन्द्र और तारे गतिशील हैं, इसका अनुमान हो जाता है। चैत्र नामक व्यक्ति भिन्न-भिन्न स्थानों पर देखा गया है, इसलिए वह गतिशील है, इसका अनुमान हो जाता है। जहाँ गतिशीलता नहीं है, वहाँ दूसरे स्थानों पर पहुँचना नहीं होता है। विन्ध्यपर्वत निश्चित स्थानों पर ही देखा जाता है, इसलिए उसमें गतिशीलता नहीं है, ऐसा आनुमानिक प्रमाण सिद्ध करता है। यह अनुमान सजातीयों से सम्बन्धित है, विजातीयों से नहीं। जैसे—गतिशीलता सिद्ध करने के लिए गतिशील वस्तु या व्यक्ति होने चाहिए और अगतिशीलता या स्थिरता के लिए तद्धर्मी पदार्थों का चयन आवश्यक है। जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है, पर्वत पर धुआँ है, इसलिए पर्वत पर अग्नि है। धुआँ और अग्नि सजातीय हैं इन्हीं की प्रस्तुति की जा सकती है, विजातीय जलाशय की नहीं।

इस प्रकार किसी प्रत्यक्ष दर्शन के सहारे युक्तियों द्वारा जो अप्रत्यक्ष पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान होता है, वह अनुमान से होने वाली प्रमाणवृत्ति है। जिन अनुमानों से विषय-वासना के प्रति विरक्ति जागृत हो और योग-साधना के प्रति श्रद्धा बढ़े वे अनुमान वृत्तियाँ अक्लिष्ट हैं और इसके विपरीत वृत्तियाँ क्लिष्ट हैं।

3. **आप्त प्रमाण**—विषय का यथार्थ, पूर्ण, परिपक्व, प्रामाणिक ज्ञान रखने वाला पुरुष आप्त पुरुष है। आप्त पुरुष के द्वारा प्रत्यक्षीकृत अथवा अनुमित ज्ञानोपदेश से उत्पन्न चित्तवृत्ति 'आगम प्रमाण' की परिधि में आती है। आगम प्रमाण से यदि भोगों में विराग और योग में अनुराग जगे तो वह अक्लिष्ट है और यदि लौकिक एवं स्वर्गलोक में प्राप्य भोगों के प्रति लालसा जगे, सकाम कर्मों में आसक्ति और प्रवृत्ति बढ़े, तो वह क्लिष्ट है।

छन्दोबद्ध सार

प्रमाण के तीन भेद उनको बताता सुनो
'प्रत्यक्ष' औ 'अनुमान' 'आगम' बखानिए।
इन्द्रियों से अनुभूत ज्ञान है 'प्रत्यक्ष' ज्ञान
अनुमान साध्यज्ञान 'अनुमान' मानिए।
आप्त पुरुषों से प्राप्त हुआ ज्ञान 'आगम' है
उपदेश द्वारा मिल पाता यह जानिए।
योग में जो बाधक तो 'क्लिष्ट' ऐसा मानो उसे
साधक जो बने तो 'अक्लिष्ट' पहचानिए॥

◎ विपर्ययवृत्ति के लक्षण ◎

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥8॥

शब्दार्थ—अतद्रूपप्रतिष्ठम् = जो उस वस्तु के स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं है। मिथ्याज्ञान = अयथार्थ ज्ञान। विपर्ययः = विपर्यय है।

सूत्रार्थ—किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप के स्थान पर उससे भिन्न किसी दूसरी अवास्तविक वस्तु को आरोपित कर सत्य मान लेना 'विपर्ययवृत्ति' है। जैसे—रस्सी को साँप समझ लेना।

स कस्मान्न प्रमाणम्। यतः प्रमाणेन बाध्यते, भूतार्थविषयत्वात्प्रमाणस्य। तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम्। तद्यथा द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यता इति। सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या, अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति। एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति। एते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्ते ॥8॥

विपर्यय वृत्ति 'प्रमाण' क्यों नहीं है ? कारण यह है कि वह प्रमाण द्वारा खण्डित हो जाती है। प्रमाण यथार्थ बोधक होता है। प्रमाण के द्वारा अप्रमाण खण्डित हो जाता है, ऐसा देखा जाता है। जैसे नेत्र में दोष के कारण एक चन्द्रमा दो होकर दिखाई देता है, उस एक चन्द्रमा का दो चन्द्रमाओं के रूप में दिखाई देना वास्तविक एक चन्द्रमा के देखने से खण्डित हो जाता है।

वह यह अविद्या (विपर्यय) पाँच भेदों वाली है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरणभय)। इन्हीं को तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। इनको चित्तमलों के कथन-प्रसंग (2:3-9) में आगे चलकर कहा जायेगा।

योगदीपिका

भाष्यकार ने इस विपर्यय वृत्ति को प्रमाण नहीं माना है, क्योंकि प्रमाण यथार्थ का बोध कराता है और विपर्यय में यथार्थ बाधित होता है, जैसे—एकचन्द्र को द्विचन्द्र रूप में देखना एकचन्द्र के यथार्थ दर्शन से बाधित हो जाता है; इसलिए विपर्यय-वृत्ति प्रमाणवृत्ति से भिन्न है। यह वृत्ति 'अविद्या' कही जानी चाहिए। अविद्या के पाँच भाग हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो 'विपर्यय' को अविद्या मानना तर्कसंगत नहीं है। अविद्या का नाश सहज नहीं है। अविद्या का नाश बिना सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि के नहीं हो सकता, जब कि 'विपर्यय' का रस्सी में साँप देखने या एकचन्द्र को द्विचन्द्र देखने की स्थिति मिटाने के लिए सम्प्रज्ञात समाधि तक जाने की आवश्यकता नहीं है। अतः सूत्रकार

पतञ्जलि की मान्यता को यथावत् मानना ठीक है । विपर्ययवृत्ति भी यदि योगसाधना में बाधक है तो 'क्लिष्ट' और यदि साधक है तो 'अक्लिष्ट' मानी जानी चाहिए ।

छन्दोबद्ध सार

वृत्ति जो विपर्यय है उसको बताता सुनो
अनिवार्य साधना में सही पहचान है ।
झूठ सत्य, सत्य झूठ इसमें दिखाई देता,
उलटी समझ, छूट जाता सत्य ज्ञान है ।
रस्सी में दिखाई देने लगता है सर्प घोर
झूठा जग दीख जाता सत्य के समान है ।
जान यह ज्ञान, करो सत्य पहचान, क्योंकि
साधना में इसका बड़ा ही योगदान है ।

⊛ विकल्पवृत्ति के लक्षण ⊛

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥9॥

शब्दार्थ—शब्दज्ञानानुपाती = शब्दजनित ज्ञान के साथ-साथ होने वाला । वस्तुशून्यः = जो अन्य विषयवस्तु से शून्य है, वह ज्ञान विकल्पः = विकल्प है ।

सूत्रार्थ—किसी अदृश्य पदार्थ को लोक द्वारा सुने-सुनाये आधार पर कल्पित कर सत्य के विकल्प (option) रूप में मान लेना 'विकल्पवृत्ति' है ।

स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययोपारोही च । वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्द-ज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते, तद्यथा 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूप-मि'ति । यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते ? भवति च व्यप-देशे वृत्तिः, यथा 'चैत्रस्य गौरि'ति । तथा 'प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः' । 'तिष्ठति बाणः,' 'स्थास्यति' 'स्थित'—इति गतिनिवृत्तौ धात्वर्थ-मात्रं गम्यते । 'तथाऽनुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति' उत्पत्तिधर्मस्याभावमात्रमव-गम्यते न पुरुषान्वयी धर्मः । तस्माद्विकल्पितः स धर्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति ॥9॥

यह विकेल्पवृत्ति न 'प्रमाण' के अन्तर्गत आती है और न 'विपयर्य' के अन्तर्गत । वस्तुशून्य होने पर भी शब्द-ज्ञान की महिमा के कारण व्यवहार में देखी जाती है । जैसे—चैतन्य पुरुष का स्वरूप है । जब चैतन्य ही पुरुष है, तब चैतन्य और पुरुष में विशेषण-विशेष्य भाव के आरोप की आवश्यकता क्यों ? चैतन्य शब्द

का अलग से प्रयोग क्यों ? जैसे चैत्र नामक पुरुष की गाय कहने पर भावना बनती है कि गाय विशेष्य है और 'चैत्र' विशेषण है। चैत्र नामक व्यक्ति अन्य है और गौ नामक प्राणी अन्य है। इसलिए इनमें भेद-कथन यथार्थ है, किन्तु चैतन्य पुरुष का स्वरूप है, यह कथन ठीक नहीं जब कि चैतन्य और पुरुष दोनों एक ही है। 'चैत्रस्य गौः' इस वाक्य में चैत्र नामधारी पुरुष और उसकी गाय में दो की प्रतीति होती है, किन्तु 'चैतन्यं पुरुषस्वरूपम्' वाक्य में जब चैतन्य ही पुरुष है और पुरुष ही चैतन्य है, तब दोनों को अलग-अलग कहकर विशेष्य-विशेषण भाव का भेदपूर्ण कथन व्यवहार की सुविधा के लिए कहा गया विकल्प रूप कथन है। इसी प्रकार बाण स्थित है, स्थित होगा और स्थित था। यहाँ गतिनिवृत्तिपरक धात्वर्थ का ही बोध होता है। पुरुष उत्पत्तिधर्म से रहित है। यहाँ उत्पत्तिधर्म का अभाव ही बोधित होता है। यह अभाव पुरुष में रहने वाला कोई धर्म तो है नहीं। पुरुष में सारे कथित धर्म कल्पित हैं। यह कल्पना व्यावहारिक सुविधा के कारण कथन रूप में प्रचलित हो गयीं।

योगदीपिका

भाष्यकार के अनुसार—'स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययोपारोही' अर्थात् विकल्पवृत्ति न प्रमाणवृत्ति के अन्तर्गत आती है और न विपर्ययवृत्ति की परिधि में आती है। विकल्पवृत्ति सुने-सुनाये कल्पित ज्ञान पर टिकी होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि वृत्तियों से इसका सम्बन्ध नहीं होता है। विपर्ययवृत्ति में विद्यमान वस्तु के स्वरूप का विपरीत ज्ञान होता है और विकल्पवृत्ति में अविद्यमान वस्तु की शब्द ज्ञान के आधार पर कल्पना होती है। सुनी-सुनायी बातों के आधार पर मनुष्य जो नाना प्रकार की कल्पनाएँ करता है, वे सभी विकल्पवृत्ति के अन्तर्गत आती हैं। जैसे किसी देवविशेष का कोई निर्धारित रूप न होने पर भी उसके रूप की कल्पना कर सुने-सुनाये आधार पर ध्यान करने लग जाना। सुने-सुनाये आधार पर कल्पना कर चित्रादि को ईश्वर का विकल्प (option) मानकर ध्यान करना 'विकल्प-वृत्ति' का उदाहरण माना जा सकता है। भाष्यकार ने 'चैतन्यपुरुषस्य स्वरूपम्' को विकल्प के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। पुरुष चैतन्य ही है, फिर चैतन्य को क्यों पुरुषों के साथ अनावश्यक विशेषण के रूप में जोड़ा गया ? यह लोक प्रचलन में होने के कारण सुनते-सुनते व्यवहार की सुविधा के रूप में प्रचलित हो गया। यही शब्दाश्रित 'विकल्प है'। यह विकल्पवृत्ति यदि योगसाधना में साधक तो अक्लिष्ट और यदि बाधक है तो 'क्लिष्ट' कही जायेगी।

छन्दोबद्ध सार

सुना हुआ ज्ञान शब्द ज्ञान कहलाता, यही
सुना ज्ञान ही विकल्प वृत्ति का आधार है।

विविध प्रमाणों द्वारा जिसे जाने-माने नहीं
तो भी सत्य माने, जान लोक में प्रचार है ।
सत्य का विकल्प मान लिए ज्ञान कल्पित को
करने उद्योग भी लगे तदनुसार है ।
योग में जो बाधक तो 'क्लिष्ट' वृत्ति जानो इसे
साधक जो तो 'अक्लिष्ट' करना विचार है ।

⊙ निद्रावृत्ति के लक्षण ⊙

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥10॥

शब्दार्थ—अभावप्रत्ययालम्बना = अभाव के ज्ञान का अवलम्बन (ग्रहण) करने वाली । वृत्तिः = वृत्ति । निद्रा = निद्रा है ।

सूत्रार्थ—जाग्रत् और स्वप्नावस्था के किसी भी विषय के ज्ञान के अभाव का नाम निद्रा है ।

सा च सम्प्रबोधे प्रत्यवमर्शात्प्रत्ययविशेषः । कथम् ? सुखमहमस्वाप्सम्, प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति । दुःखमहमस्वाप्सम्; स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम् । गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्; गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तं मे चित्तम्: अलसं मुषितमिव तिष्ठतीति । स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे; तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः । तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा । सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥10॥

और जागने पर निद्रा-सम्बन्धी स्मृति के आने से वह 'निद्रा' भी एक प्रकार का विशेष प्रत्यय (ज्ञान) है । यह कैसे ? 'मैं सुख की नींद सोया, मेरा मन प्रसन्न है तथा मेरी बुद्धि को विमल कर रहा है' । अथवा 'मैं दुःख की नींद सोया, मेरा मन अकर्मण्य, चंचल हुआ, अस्थिर, भटक रहा है' ? अथवा 'मैं गहरी नींद में मूढ़ावस्था में सोया' । 'मेरे अंग भारी हो रहे हैं । मेरा चित्त थका हुआ, अलसाया और खोया खोया-सा है' । जागे हुए व्यक्ति की ऐसी स्मृति बिना इस प्रकार के अनुभव परक ज्ञान के नहीं होनी चाहिए । उस अनुभूति पर टिकी रहने वाली स्मृतियाँ भी उसके विषय में नहीं होनी चाहिए । इस प्रकार निद्रा भी एक विशिष्ट कोटि का ज्ञान अथवा वृत्ति है । वह निद्रा भी समाधिकाल में अन्य वृत्तियों के सदृश निरुद्ध को जानी चाहिए ।

योगदीपिका

अनेक दार्शनिकों ने निद्रा को वृत्ति न मानकर सुषुप्ति अवस्था माना है । निद्रा एक 'वृत्ति' है, इसका बोध कराने के लिए सूत्रकार ने सूत्र में निद्रा के साथ 'वृत्ति'

पद का प्रयोग किया है। निद्रा भी एक विशिष्ट चित्तवृत्ति है; तभी तो निद्रा से उठकर व्यक्ति निद्रा विषयक अनुभूति का वर्णन करता है कि 'मैं सुख से सोया' आदि अपने निद्राविषयक अनुभव बताता है। इसलिए निद्रा ज्ञान का अभाव नहीं है, अपितु 'वृत्ति' है।

निद्रा वृत्ति भी 'क्लिष्ट' और 'अक्लिष्ट' दो प्रकार की होती हैं। स्फूर्ति और ऊर्जा जगाने वाली योगसाधना में साधक बनने वाली निद्रा 'अक्लिष्ट' तथा प्रमाद, आलस्य, भारीपन, अकर्मण्यता लाने वाली योगसाधना की बाधक निद्रा 'क्लिष्ट' है। योगिराज श्रीकृष्ण ने गीता में निद्रावृत्ति के अक्लिष्ट रूप की चर्चा इस प्रकार की है—

युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा ।। (गीता 6:17)

दु:खनाशक योग तो यथोचित आहार-विहार करने वालों का, कर्मों में यथोचित चेष्टा करने वालों का तथा यथोचित सोने और जागने वालों का ही सिद्ध होता है।

छन्दोबद्ध सार

निद्रा में समस्त ज्ञान का अभाव होता, किन्तु
जागने पै निद्रा ज्ञान का न जाता ज्ञान है।
सोने वाला जगकर कहे निद्रा-अनुभव
अस्तु, निद्रा ली गयी है वृत्ति एक मान है।
सच पूछा जाये तो सुखद निद्रा काल भी तो
लगभग गहन समाधि के समान है।
साधना में बाधक तो नींद 'क्लिष्ट' वृत्ति मानो
साधक अगर तो 'अक्लिष्ट पहचान है।

⊛ स्मृतिवृत्ति के लक्षण ⊛

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ।।11।।

शब्दार्थ—अनुभूतविषयासम्प्रमोष: = अनुभव किये हुए विषय का न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना। स्मृति: = स्मृति है।

सूत्रार्थ—अनुभव किये हुए विषय जो अन्तर्मन में पड़े हुए हैं, अनुकूल प्रसंग पाकर उभर आयें और चेतना में छा जायें, तो 'स्मृति' है।

किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरत्याहोस्विद्विषयस्येति ? ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तथाजातीयकं संस्कारमारभते । स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति । तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः । सा च द्वयी—भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च । स्वप्ने भावितस्मर्तव्या, जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति । सर्वाश्चैताः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात्प्रभवन्ति । सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः । सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः । सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः, मोहः पुनरविद्येति । एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः । आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसम्प्रज्ञातो वेति ॥11॥

क्या चित्त ज्ञान का स्मरण करता है, अथवा ज्ञान के विषय का स्मरण करता है ? ग्राह्य विषय से जुड़ा हुआ तथा ग्राह्य विषय और ज्ञान दोनों के आकार मे भासित होने वाला पूर्वविषयानुभव उसी प्रकार के संस्कार बनाना आरम्भ करता है । अपने अभिव्यञ्जक अर्थात् उद्बोधक प्रसंग से उद्बुद्ध हुआ वह संस्कार विषयक तथा अनुभव की उभयात्मिका स्मृति को उत्पन्न करता है । उसमें ज्ञानाकार प्रधान अंश तो ज्ञान का अनुभव है और अनुभूत विषयाकार प्रधान अंश शुद्ध स्मृति है । स्मृति दो प्रकार की होती है—कल्पित और यथार्थ । स्वाप्निक स्मृति कल्पित एवं जाग्रत्काल की स्मृति यथार्थ विषयक स्मृति होती है । ये सभी वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के अनुभव से जुड़ी हुई होती हैं । ये सभी वृत्तियाँ सुख-दुःख एवं मोहात्मक होती हैं । सुख-दुःख एवं और मोह की व्याख्या क्लेशों के प्रसंग में सविस्तार की जानी चाहिए । सुख का अनुगामी राग और दुःख का अनुगामी द्वेष है; मोह तो साक्षात् अविद्या ही है । ये सभी वृत्तियाँ निरुद्ध की जानी चाहिए । इन सबके निरोध हो जाने पर 'सम्प्रज्ञात' या 'असम्प्रज्ञात' समाधि सिद्ध होती है ।

योगदीपिका

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति आदि चित्तवृत्तियों का आश्रय लेकर सभी उनसे सम्बन्धित स्मृतियाँ अनुकूल उद्बोधक पाकर उत्पन्न होती हैं—'सर्वाश्चैताः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात् प्रभवन्ति' । (व्यासभाष्य)

तात्पर्य यह है कि जीवन में निरन्तर कोई-न-कोई घटना घटती रहती है । इन्द्रियाँ उनका अनुभव करती रहती हैं । जो घटनाएँ, विचार या भावनाएँ अधिक संवेदक होती हैं, वे अन्तर्मन में पैठ कर स्मृति बन जाती हैं । ये सभी स्मृतियाँ सुख-दुःख मोहात्मक होती हैं । ये ही संस्कार बनाती हैं, स्वभाव बनाती हैं । इन स्मृतियों की छाप या संस्कार प्रबल होकर चित्त-कोष में संचित रहते हैं और अनुकूल उद्बोधक

या निमित्त पाते ही अन्तश्चेतना से निकल कर बाह्य चेतना में छाकर क्रियाशील हो जाते हैं तथा सम्बन्धित संस्कारों को गहराते जाते हैं । अन्तर्मन में छिपे पड़े विचार या संस्कार का उभार ही स्मृति है । अनुभूत विषय यदि बुद्धि से लुप्त न हुए तो वे 'स्मृति' बन जाते हैं । निष्कर्षतः अनुभूत विषयों की चित्त में उपस्थिति होते रहना 'स्मृति' है । स्मृति की परिभाषा किसी विद्वान् ने अंग्रेजी में इस प्रकार की है—

"Memory is when the perceived objects do not slip away and through impressions come back to consciousness".

भाष्यकार ने स्वप्न को भी 'स्मृति' वृत्ति के अन्तर्गत माना है—'स्वप्ने भावितस्मर्तव्या ।' (व्यासभाष्य)

जिस स्मृति के उभार से ज्ञान-वैराग्य, एवं योग के प्रति श्रद्धा हो वह अक्लिष्ट और इसके विपरीत 'क्लिष्ट' है ।

छन्दोबद्ध सार

मन इन्द्रियों से अनुभूत जो विचार हुए
मन में उतर यादगार बन जाते हैं ।
पाते अनुकूल जो निमित्त तो उभार पाते
ताजे बन चित्त पर बार-बार आते हैं ।
ये ही स्मृति कहलाते, गहराते जाते
ये ही संस्कार बने चित्त पर छाते हैं ।
बाधक जो योग में तो 'क्लिष्ट' कहलाते और
साधक बने, तो ये 'अक्लिष्ट' नाम पाते हैं ।

अथाऽऽसां निरोधे क उपाय इति—

अब इनके निरोध का कौन-सा उपाय है ? इस विषय में बताते हैं—

⊛ चित्तवृत्तियों के निरोध के उपाय ⊛

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥12॥

शब्दार्थ—तन्निरोधः = उनका विरोध । अभ्यासवैराग्याभ्याम् = अभ्यास और वैराग्य द्वारा होता है ।

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त पाँच श्रेणी की चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य—इन दो साधनों से होता है ।

चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी । वहति कल्याणाय वहति पापाय च । या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा, संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा । तत्र वैराग्येण विषयस्त्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्त्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥12॥

चित्तरूपिणी नदी दो धाराओं में बँट कर प्रवाहित होती है । उसकी एक धारा कल्याण के लिए बहती है और दूसरी धारा पाप के लिए बहती है । जो धारा कैवल्यमुक्तिप्रदा और विवेकवाहिका है, वही कल्याणवाहिका है और जो संसाराभिमुखी तथा अविवेकविषय-वाहिका है, वह पाप के लिए बहने वाली धारा है । उनमें से पापवाहिका धारा को वैराग्य के द्वारा क्षीण कर सुखा दिया जाता है । विवेक दर्शन के अभ्यास से विवेक स्रोत प्रवाहित कर प्रबल रूप से प्रकट किया जाता है । इस प्रकार चित्तवृत्ति-निरोध वैराग्य और अभ्यास दोनों पर ही आधारित होता है ।

योगदीपिका

सामान्य जनों के हृदयों में शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य दोनों प्रकार के विचार-संस्कार विद्यमान रहते हैं । शुभ संस्कार उन्हें उत्थान और अशुभ संस्कार पतन की ओर ले जाते हैं । भाष्यकार ने इस तथ्य को एक नदी के रूपक द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की है । चित्त एक नदी है, जो दो धाराओं में बँट कर बहती है । प्रथम कल्याणवाहिनी धारा है, जो उतनी प्रबल नहीं होती, जितनी दूसरी की पापवाहिनी धारा होती है । यह ध्यान रखकर सावधान रहना चाहिए कि जलधार की तरह मन की सहज ढलान बुराइयों और विकारों की ओर होती है । जिस चाव और सहजता से मन पाप-कर्मों में प्रवृत्त होता है, उस तरह सत्कर्मों में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है । कई पापयोनियों के पश्चात् उसे मनुष्य योनि मिली है, अस्तु पशु-संस्कार अन्तर्मन में छाये रहते हैं । उनसे सावधान रहना चाहिए । योगी को चाहिए कि पापवाहिनी धारा को अभ्यास और वैराग्य इन दो उपायों द्वारा क्षीण करके सुखा डाले तथा कल्याणवाहिनी धारा को सबल बनाये । वैराग्य उपाय के द्वारा चित्त के लौकिक और पारलौकिक विषयोन्मुख प्रवाह रोके और इस रोकने की क्रिया का सतत अभ्यास कर चित्त को एकाग्र या स्थिर करे । योगिराज श्रीकृष्ण ने इन्हीं दोनों उपायों को मनोनिग्रह के लिए उपयोगी बताया है; यथा—

> असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
> अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ॥ (गीता 6:35)

विषयों के प्रति जो अनुचित आसक्ति (attachment) है, उसका सर्वथा त्याग ही वैराग्य है । घर-बार छोड़कर जंगल जाना, भगवा पहनना, जटाजूट एवं नखशिख बढ़ाना, राख लपेटना, नग्न रहना आदि वैराग्य नहीं है । कर्म को छोड़ना

नहीं, अपितु आसक्ति का त्याग वैराग्य है । कर्मेन्द्रियों को कर्मों से रोक कर एवं मन से विषयों का चिन्तन करना दम्भ है, पाप है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार: स उच्यते ॥ (गीता 3:6)

इस प्रकार विषयासक्ति त्यागरूपी कर्म और असत् के त्याग और सत् के ग्रहण तथा चिन्तन रूपी कर्म का सतत अभ्यास करे । इन उपायों के अभ्यास से सत्त्वगुण का विकास होगा, मानसिक एकाग्रता बढ़ेगी और तनाव घटेगा । मानसिक एकाग्रता से अभ्यासपूर्वक धीरे-धीरे सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों के निरोध की स्थिति आयेगी और 'असम्प्रज्ञात' समाधि सिद्ध होगी ।

छन्दोबद्ध सार

चित्त रूपी नदी पाप-पुण्य दोनों धारा वाली
किन्तु पाप धारा तीव्र, लोग बह जाते हैं ।
विवेक जगाये, पाप-धार को सुखाये, अस्तु
अभ्यास-वैराग्य दो उपाय को सुझाते हैं ।
अन्तर्मुखी निज को बनाये, सत्त्व भाव लाये
दु:खदोष विषयों में देखे, बतलाते हैं ।
वैराग्य को करे दृढ़ अभ्यास के द्वारा नित्य
चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध बनें, समझाते हैं ।

⊛ अभ्यास के लक्षण ⊛

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥13॥

शब्दार्थ—तत्र = उन दोनों में से । स्थितौ = (चित्त की) स्थिरता हेतु । यत्न: = प्रयत्न । अभ्यास: = अभ्यास है ।

सूत्रार्थ—उन दोनों में से अभ्यास और वैराग्य में से चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए जो बार-बार प्रयत्न किया जाता है, उसका नाम 'अभ्यास' है ।

चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः, तदर्थः प्रयत्नो वीर्य-मुत्साहः । ततसम्पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः ॥13॥

राजस और तामस चित्तवृत्तियों से शून्य चित्त का हलचलों से रहित होकर प्रशान्त दशा की प्राप्ति का नाम 'स्थिति' है । इस 'स्थिति' को स्थिर रखने के लिए जो सोत्साह प्रयत्न किया जाता है, वह 'अभ्यास' है ।

योगदीपिका

अवृत्तिकस्य चित्तस्य = 'वृत्तिविहीन चित्त के' इस वाक्यांश में वृत्तिविहीन चित्त का तात्पर्य राजस और तामस चित्तवृत्तियों का न रहना है । सात्त्विक वृत्ति का यहाँ निषेध नहीं है, क्योंकि चित्त की 'एकाग्र' स्थिति में सात्त्विक वृत्ति अवश्य रहती है । उस समय चित्त की स्थिति निस्तरंग शान्त होती है । जब सात्त्विक वृत्ति भी न रहेगी, तब गुणातीत मन 'असम्प्रज्ञात' समाधि भूमि पर होगा । वहाँ अभ्यास और वैराग्य के लिए विशेष उपाय की आवश्यकता नहीं रह जाती है । इस सूत्र में आगे के उपाय पहले राजस और तामस वृत्तियों की शान्ति के लिए बताये गये हैं; जिनसे सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है । अस्तु 'अवृत्तिकस्य चित्तस्य' से राजस और तामस वृत्ति-शून्यता का ही अर्थ समीचीन है । चित्त को निस्तरंग शान्त स्थिति में लाने के लिए इसी पाद के 32 से 39 सूत्रों में विधियाँ बतायी गयी हैं । ये अन्तरंग साधन हैं । बाह्य साधनों का वर्णन आसन-प्राणायाम रूप में आगे 'साधनपाद' में किया गया है । इस प्रकार स्वभावतः चंचल मन को किसी ध्येय में स्थिर करने के लिए बारम्बार चेष्टा करते रहना 'अभ्यास' है । पूर्वकथित वैराग्य भावना (detachment) के विचार बार-बार मन में लाये, यही अभ्यास है ।

छन्दोबद्ध सार

रज-तम वृत्ति शून्य चित्त शान्त बना रहे
तभी योग सिद्धि की ओर चरण बढ़ाता है ।
मन जो अशान्त क्लान्त चञ्चल बना रहा तो
कभी योग सिद्धि तक पहुँच न पाता है ।
चित्त निज ध्येय पर शान्त बन टिका रहे
योगशास्त्र 'अभ्यास' का उपाय सुझाता है ।
मन को टिकाने हेतु लगातार बार-बार
होता जो प्रयास है, **'अभ्यास'** कहा जाता है ।

विशेष—इस हेतु गीता का बारहवाँ अध्याय विशेष पठनीय है ।

⊛ अभ्यास के दृढ़ होने का उपाय ⊛

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥14॥

शब्दार्थ—तु = परन्तु । सः = वह (अभ्यास) । दीर्घकाल = लम्बे समय तक । नैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितः = निरन्तर सादर साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जाने पर । दृढभूमिः = दृढ़भूमि पाता है ।

सूत्रार्थ—चित्तवृत्तियों के निरोधजन्य योग की सिद्धि का अभ्यास श्रद्धापूर्वक निरन्तर दीर्घकाल तक करना अनिवार्य है, तभी अभ्यास दृढ़ होकर सिद्धि की दृढ़ भूमि निर्मित कर सकेगा ।

दीर्घकालासेवितो, निरन्तरासेवितः, सत्कारासेवितः । तपसा, ब्रह्मचर्येण, विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् दृढभूमिर्भवति । व्युत्थान-संस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः ॥14॥

दीर्घकालिक, निरन्तर आचरित, श्रद्धापूर्वक सेवित तथा तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और आदरपूर्वक सम्पादित 'अभ्यास' दृढ़ भूमि प्राप्त करता है । व्युत्थान संस्कार द्वारा तत्काल ही अभिभूत नहीं होता है ।

योगदीपिका

अभ्यास काल में धैर्य रखना चाहिए, इसमें उतावलापन वर्जित है । अभ्यास को सादर साङ्गोपाङ्ग करना चाहिए । अभ्यास के प्रति श्रद्धा-विश्वास बनाये रखना चाहिए। अभ्यास काल में शीतोष्ण, सुख-दुःख जन्य आघात-सहन रूपी तप, इन्द्रिय-निग्रह, ब्रह्मचर्य, विवेक, ज्ञान-वैराग्य का पालन अनिवार्य है । अभ्यास में निरन्तरता आवश्यक है । अभ्यास में आलस्य व प्रमाद न करे । अभ्यास को अपनी दिनचर्या का अनिवार्य अंग बना ले । साधनकाल में व्युत्थानकालिक संस्कार अर्थात् सांसारिक बाधाएँ, मन के जन्म-जन्मान्तर के संस्कार तो बाधा पहुँचायेंगे ही, किन्तु साधक उनसे विचलित न होकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अभ्यास में निरन्तर लगा रहे, तभी अभ्यास दृढ़ होकर योग हेतु दृढ़ सिद्धि की भूमि बना पायेगा । इस सूत्र का भाव गीता में इस प्रकार अभिव्यक्त है—

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ (गीता 6:23)

छन्दोबद्ध सार

दीर्घकाल तक बिना ऊबे यदि सोत्साह
लगातार अभ्यास का क्रम चलता रहा ।
सादर जमाये भाव श्रद्धा का जो साङ्गोपाङ्ग
साधना में योग का प्रयोग पलता रहा ।
योग-पल्लवन हेतु दृढ़ भूमि प्राप्त होगी,
अभ्यास के द्वारा यदि विघ्न टलता रहा ।
साधक को सिद्धि मिलेगी अवश्य एक दिन
अभ्यास के साँचे में जो योग ढलता रहा ।

◎ 'वशीकार' संज्ञक अपर वैराग्य के लक्षण ◎

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥15॥

शब्दार्थ—दृष्टानुश्रविकः = देखे और सुने हुए । विषयवितृष्णस्य = विषयों में सर्वथा तृष्णारहित चित्त की । वशीकारसंज्ञा = जो वशीकार नामक अवस्था है । वैराग्यम् = वैराग्य है ।

सूत्रार्थ—देखे और सुने हुए जितने भी भोग-विषय हैं, उनमे वैराग्य हो जाना 'वशीकार' संज्ञक वैराग्य है । इसी को अपर वैराग्य भी कहते हैं ।

स्त्रियोऽन्नं पानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये वितृष्णस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य, दिव्यादिव्यविषयसम्प्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥15॥

सुन्दरी स्त्री, अन्न अर्थात् खाद्य और पेय पदार्थ, ऐश्वर्य—धन-मान, पद-प्रतिष्ठा; इन दृष्ट विषयों में तृष्णारहित होना तथा स्वर्ग की, विदेह भाव की और प्रकृतिलय भाव की प्राप्ति होने पर तथा वेद-शास्त्र-पुराण प्रतिपादित पारलौकि अदृष्ट भोग-विषयों में तृष्णा अभाव एवं दिव्य अर्थात् देवलोकों स्वर्गादि के सुख-भोगों एवं ऐश्वर्य तथा अदिव्य अर्थात् मानवीय लोक के ऐहिक विषयों के सम्प्रयोग (प्राप्ति) होने पर भी उन सभी विषयों के प्रति वितृष्णा और दुःख-दोष निखरता देखने की जो विशिष्ट ज्ञानात्मक प्रवृत्ति है, जिसे प्रसंख्यान कहते हैं, उसके ज्ञान-बल से भोग के अभावरूप राग-द्वेष, त्याग-ग्रहण शून्य जो चित्त की स्थिति है, वही वशीकारसंज्ञक वैराग्य है ।

योगदीपिका

विषय भोग के विषय दो प्रकार के हैं—1. दृष्ट, 2. आनुश्रविक । दृष्ट वे हैं जो संसार में देखे जाते हैं, जैसे—राज-सुख, रमणी, पद-प्रतिष्ठा, धन-वैभव, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि से सम्बन्धित विविध भोग-विलास की वस्तुएँ । 'आनुश्रविक' वे हैं जो वेद-शास्त्र-पुराणादि में स्वर्गलोक में पाये जाने वाले बताये जाते हैं और सुनकर जाने जाते हैं ।

इन दोनों प्रकार के दिव्य (देवलोकगत) अदिव्य (मानवलोकगत) विविध सुखोपभोगों के प्रति जब 'प्रसंख्यान' संज्ञक ज्ञान के बल से सहज विरक्ति या अरुचि हो जाये, तब 'वशीकार' या 'अपर' संज्ञक वैराग्य से निर्मित चित्तभूमि मानी जायेगी जो 'सम्प्रज्ञात समाधि' की प्रदात्री है । यह 'वशीकार' राग-द्वेष, तृष्णाशून्य चित्त की एक विशेष स्थिति है । इस स्थिति को पाने के लिए सतत अभ्यासपूर्वक साधक को एक विशिष्ट ज्ञानात्मक चिन्तन-प्रवृत्ति जागृत करनी पड़ती है, जिसे 'प्रसंख्यान'

कहते हैं । साधक भावनापूर्वक चिन्तन करता रहे—"भोग रोग के कारण हैं, फिर विषयों की कामना विषयोपभोग की सामग्री प्रदान करते रहने से शान्त भी तो नहीं हो सकती हैं। क्या अग्नि को घृताहुति देने से शान्त किया जा सकता है" ?

न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।

'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता: तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा: ।'

—आदि वैराग्यबोधक साहित्य के पठन और चिन्तन से भोगों के प्रति सहज अरुचि उत्पन्न करनी चाहिए ।

यहि तन कर फल विषय न भाई ।
स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदाई ।। (मानस)

छन्दोबद्ध सार

देखी-सुनी भोग-वस्तुओं के जो अनेक रूप
वही 'दृष्टानुश्रविक' भोग कहलाता है ।
सहज अरुचि उन सभी भोगों में जगे तो
'वशीकार' संज्ञक वैराग्य उर आता है ।
भोगों में उपेक्षा बुद्धि आती तो वैराग्य लाती
राग-द्वेष शून्य, चित्त वशी बन जाता हैं ।
लोक-परलोक के सुखों से हो विरक्त चित्त
साधक 'सम्प्रज्ञात' योगभूमि श्रेष्ठ पाता है ।

परवैराग्य के लक्षण

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।।16।।

शब्दार्थ—पुरुषख्याते: = पुरुष के ज्ञान से । गुणवैतृष्ण्यम् = प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाना । तत् = वह । परम् = परवैराग्य है ।

सूत्रार्थ—प्रकृति-पुरुष सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान के हो जाने पर अर्थात् आत्मज्ञान हो जाने पर प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाना 'परवैराग्य' है ।

दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्त: पुरुषदर्शनाभ्यासात् तच्छुद्धि-प्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति । तद्द्वयं वैराग्यम् । तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्, यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं

मन्यते—प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसङ्क्रमः, यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते, मृत्वा च जायत इति । ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् । एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ॥16॥

'दृष्ट' अर्थात् प्रत्यक्ष देखे जाने वाले सांसारिक भौतिक सुख और 'आनुश्रविक' अर्थात् वेदशास्त्र-वर्णित स्वर्गादि लोकों के पारलौकिक सुखों में दोष और दुःख देखने वाला तृष्णाशून्य साधक जब प्रकृति-पुरुष के भेद रूप आत्मज्ञान से मण्डित, सुतृप्त चित्तवाला होकर त्रिगुणमयी प्रकृति के स्थूल-सूक्ष्म स्वरूप वाले गुणों से भी विरक्त हो जाता है, तब इस स्थिति में एक और वैराग्य का जन्म होता है, जिसे 'पर वैराग्य ' कहते हैं । इस प्रकार वैराग्य की दो कोटियाँ हो गयीं—1. अपर वैराग्य, 2. पर वैराग्य । इसमें बाद वाला 'पर वैराग्य' ज्ञान का चरम कोटिक वैराग्य है, जिसके उदय होने पर तत्त्वदर्शी योगी ऐसा मानता है कि प्राप्तव्य प्राप्त हो गया, नष्ट करने योग्य अविद्यादि क्लेश नष्ट हो गये और जन्म-मरण का शृंखलाबद्ध चक्र टूट गया, जिसके टूटे बिना जीव जन्म लेकर मरता और मरकर पुनः जन्म लेता रहता है । यह 'पर वैराग्य' ज्ञान की पराकाष्ठा है । 'कैवल्य' इसी का नान्तरीयक है अर्थात् पर वैराग्योदयोपरान्त ही 'कैवल्य' की प्राप्ति होती है ।

योगदीपिका

अभ्यासपूर्वक साधक जब 'दृष्टानुश्रविक' अर्थात् लौकिक-पारलौकिक सभी प्रकार की विषयासक्ति से सहज मुक्त हो जाता है, तब उसमें पूर्वसूत्र में कथित अपर वैराग्य का जन्म होता है और सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति आती है । इस स्थिति में सत्त्वगुण विद्यमान रहता है । 'गुण' का अर्थ रस्सी होता है । रस्सी रहेगी तो बन्धन रहेगा ही । सत्त्वगुण को हम सोने की रस्सी या हथकड़ी कह सकते हैं, जिससे बन्धन की क्रिया समाप्त नहीं हो सकती । जंजीर चाहे लोहे की हो, चाहे सोने की, बन्धन तो समानरूप से उत्पन्न करेगी । इसलिए वास्तविक मुक्ति के लिए गुणातीत होना पड़ेगा और तीनों गुणों से नाता तोड़ना पड़ेगा । इसी कारण गीता में योगिराज श्रीकृष्ण ने कहा है—

'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।' (गीता 2:45)

'मानस' में गोस्वामीजी कहते हैं—

सुनहु तात सो परम विरागी ।
तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी ॥ (मानस)

गुणातीत पुरुष ही सर्वथा आप्तकाम या निष्काम हो पाता है । गुणातीत पुरुष के लक्षण गीता में इस प्रकार बताये गये हैं—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ (गीता 14:24)

यह परवैराग्य ही परमवैराग्य है, जिसका फल असम्प्रज्ञात समाधि है । इस स्थिति में अखण्ड सुख-शान्ति की अनवरत वृष्टि होती रहती है । यह साधनजन्य स्थिति है, मानसिक परिवर्तन है, जो बिना वेशविन्यास के देश, जाति, वर्ग, धर्म-सम्प्रदाय से हटकर साधना के वरदान रूप में मिलने वाला सर्वश्रेष्ठ फल है, जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है ।

छन्दोबद्ध सार

परिपक्व साधना में परम वैराग्य आता
शुद्ध बुद्ध चित्त गुणातीत बन जाता है ।
पहचान जाता तब पुरुष स्वरूप शुद्ध
प्रकृति से टूट जाता कष्टपूर्ण नाता है ।
सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों से विमुक्त चित्त
'असम्प्रज्ञात' नामवाली समाधि को पाता है ।
यही 'परवैराग्य' ही आप्तकाम हैं बनाता
कैवल्य की दिव्य भूमि यही दिखलाता है ।

अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समाधिरिति—

अब दोनों उपायों (अभ्यास, वैराग्य) द्वारा निरुद्ध चित्तवृत्तियुक्त साधक की 'सम्प्रज्ञातसमाधि' किस प्रकार की होती है ? (यह आगे के सूत्र में कथित है—)

⊛ सम्प्रज्ञातयोग के अवान्तर भेदों का कथन ⊛

वितर्कविचारानन्दाऽस्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः ॥17॥

शब्दार्थ—वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् = वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता इन चारों के सम्बन्ध से युक्त । सम्प्रज्ञातः = सम्प्रज्ञात योग है ।

सूत्रार्थ—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपों के सम्बन्ध से जो चित्तवृत्तियों का निरोध है, वह सम्प्रज्ञात समाधि कहलाता है अर्थात् वितर्क के सम्बन्ध से जो समाधि होती है, उसका नाम 'वितर्कानुगत'; विचार के सम्बन्ध से 'विचारानुगत'; आनन्द के सम्बन्ध से 'आनन्दानुगत' और अस्मिता के सम्बन्ध से होने वाली समाधि का नाम 'अस्मितानुगत' सम्प्रज्ञात समाधि है ।

वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो विचारः, आनन्दो ह्लादः, एकात्मिका संविदस्मिता । तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवि-तर्कः । द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः । तृतीयो विचारविकलः सानन्दः । चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति । सर्व एते सालम्बनाः समाधयः ॥17॥

चित्त जब स्थूल विषयों को ध्यान का आलम्बन बनाता है, तब विषय का जो आभोग अर्थात् प्रज्ञारूप भावनाविशेष होती है, वह 'वितर्कानुगतसमापत्ति' अर्थात् 'सवितर्क' सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है । जब स्थूल पञ्चमहाभूतों के सूक्ष्मरूप पञ्च तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पर भावना केन्द्रित होती है, तब 'सविचार' सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है । सत्त्व प्रधान प्रकाशशील आनन्द पर भावना का केन्द्रीकरण 'आंनन्दानुगत' समाधि है । चित्त में प्रतिबिम्बित होने वाली पुरुष की सत्ता ही 'अस्मिता' है । 'अहं पुरुषोऽस्मि' ऐसा कुछ आभास होना, चित्त और पुरुष में दोनों का एकाकार का भासित होना 'अस्मितानुगत' समाधि है । इन चारों कथित समाधियो में प्रथम 'सवितर्क समाधि' में वितर्क, विचार, आनन्द एवं, अस्मिता, इन चारों का योग रहता है । द्वितीय में वितर्क को छोड़कर विचार, आनन्द एवं अस्मिता, इन तीनों का योग रहता है । तृतीय में वितर्क और विचार को छोड़कर आनन्द और अस्मिता का योग रहता है । चौथी अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में केवल अस्मिता का ही आभास रहता है । ये सारी समाधियाँ आलम्बन युक्त होती हैं, इसमे किसी-न-किसी ध्येय का आलम्बन विद्यमान होता है ।

योगदीपिका

सम्प्रज्ञात योग या समाधि में साधक में मात्र सत्त्वगुण अवशिष्ट रहता है । सत्त्वगुण आनन्द और प्रकाशमय है । इस अवस्था में योगी में सर्वज्ञता आ जाती है, किन्तु कैवल्य की स्थिति अभी नहीं आ पाती है । इसके लिए अपने शुद्ध पुरुष रूप या आत्मस्वरूप ज्ञान के लिए साधक अपने अभ्यास को आगे बढ़ाता है, तब पूर्वोक्त चार समाधियों के रूप में उसे चार पड़ाव असम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचने के लिए पार करने पड़ते हैं । चारों में यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ती जाती है । पहले योगी किसी वस्तु या मूर्ति में चित्त को एकाग्र करने का माध्यम बनाता है । ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों स्थूल सूक्ष्म में परिवर्तित होता जाता है । पदार्थ के सूक्ष्म अवयवों का आभास होने लगता है, पञ्चभूतों के सूक्ष्म रूप उनकी तन्मात्राओं के दर्शन प्रारम्भ हो जाते हैं । एकाग्रता के और अधिक बढ़ जाने पर 'सुखी हूँ' ऐसी दिव्यानन्दानुभूति उमड़ने लगती है । वहाँ दुःख का लेशमात्र नहीं रह जाता है और आगे बढ़ने पर 'मैं मात्र आनन्दरूप हूँ', इसी 'आनन्दोऽस्मि' से 'अस्मिता' की भावना का आभास होता है । यही 'अस्मितानुगत' समाधि है, जो 'सम्प्रज्ञात'

समाधि की चरम स्थिति है। मैं पुरुष हूँ, ऐसा ज्ञान होता अवश्य है, किन्तु यह भी एक चित्तवृत्ति है और सत्त्वगुण का परिणाम है।

आगे बतायी जाने वाली असम्प्रज्ञात समाधि में परवैराग्य के उदय होने पर गुणातीत अहंमन्यताशून्य स्थिति का वर्णन है।

छन्दोबद्ध सार

वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता प्रसार युक्त
सम्प्रज्ञात समाधि योगी साधक लगाते हैं।
धीरे-धीरे ध्यान में पयान करते हैं आगे
स्थूल छोड़ सूक्ष्म की ओर बढ़े जाते हैं।
योग-यात्रा में यहाँ है सूक्ष्मता की ओर जाना
धीरे-धीरे योगी निज चरण बढ़ाते हैं।
गुणातीत होकर कैवल्यरूप पाते योगी
जन्म औ मरण चक्र से वे मुक्ति पाते हैं।

अथासम्प्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किंस्वभावो वेति ?—

अब 'असम्प्रज्ञात समाधि' किन उपायों और किस स्वभाव वाली है, (यह कथन होगा—)

असम्प्रज्ञात समाधि

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥18॥

शब्दार्थ—विराम = (सभी) वृत्तियों के निरोध का। प्रत्यय = कारण (जो पर वैराग्य है उसके) अभ्यास पूर्वः = पुनः पुनः अभ्यास से। संस्कार शेषः = संस्कार रूप में शेष रह जाने वाला। अन्यः = दूसरा (असम्प्रज्ञात योग है)

सूत्रार्थ—समस्त चित्तवृत्तियों के निरोध का कारण जो 'परवैराग्य' है, उसके पुनः पुनः अनुष्ठान रूप अभ्यास से चित्तवृत्तियों का उठना तो समाप्त हो जाता है, पर चित्त में पूर्व संस्कार मात्र पड़े रह जाते हैं; ऐसे 'असम्प्रज्ञात योग' विषयक तथ्यों का उल्लेख करते हैं।

सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसम्प्रज्ञातः। तस्य परं वैराग्यमुपायः। सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते। स चार्थशून्यः। तदभ्यादपूर्वं-चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञातः ॥18॥

समस्त वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर जहाँ मात्र संस्कार शेष रह जाते हैं, ऐसे निरुद्ध चित्त में उत्पन्न समाधि 'असम्प्रज्ञात' समाधि जानी जाती है। उस असम्प्रज्ञात समाधि का पूर्वोक्त गुण वैतृष्ण्य रूप 'परवैराग्य' ही उपाय अर्थात् साधन है, 'अपर वैराय' नहीं। इस कारण ध्येयरूप आलम्बन अर्थात् आश्रय सहित जो अपरवैराग्य का अभ्यास है, वह असम्प्रज्ञात रूप निरोध समाधि के साधन होने में समर्थ नहीं है; अतः सभी वृत्तियों के निरोध का कारण जो 'परवैराग्य' है और जो ध्येय वस्तु रूप आलम्बन से रहित है, उसे ही असम्प्रज्ञात समाधि का साधन बनाया जाता है। वह असम्प्रज्ञात समाधि ध्येयरूप साधन से विहीन निर्वस्तुक है। उस परवैराग्य के अभ्यास करते-करते चित्त ध्येय वस्तु का आश्रय छोड़कर निराश्रय होता हुआ चित्त-वृत्तियों के प्रति पूर्ण निष्क्रिय होकर चंचलतारूप स्वभाव से शून्य सदृश हो जाता है। इस प्रकार यह निर्बीज समाधि 'असम्प्रज्ञात' कही जाती है।

योगदीपिका

असम्प्रज्ञात समाधि में सभी चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है, मात्र पूर्व संस्कार चित्त में चिपके रहते हैं। अपरवैराग्यजन्य सम्प्रज्ञात समाधि से अभ्यासपूर्वक आगे बढ़ने पर 'परवैराग्य' की स्थिति आती है। इस स्थिति में सत्त्वगुण सहित सभी वृत्तियों का क्षय हो जाता है। यह चित्त की त्रिगुणातीत अवस्था है। यहाँ कर्म शृंखलाजन्यसंस्कार निष्प्रभावी रहते हैं। साधक द्वारा कर्म तो होते हैं, किन्तु वे दग्ध बीज होते हैं। जैसे भुना हुआ बीज अंकुरण में सक्षम नहीं होता, वैसे साधक द्वारा होने वाले कर्म शुभाभुम फल उत्पन्न करने में सक्षम नहीं होते हैं। अपरवैराग्यजन्य सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त को एकाग्र करने के लिए मूर्ति या अन्य किसी स्थूल वस्तु-गत आलम्बन की परतन्त्रता रहती है, किन्तु परवैराग्यजन्य असम्प्रज्ञात समाधि में बाह्य आलम्बन के सहारे की आवश्यकता नहीं रह जाती। समाधि स्वतः लग जाती है। यह भ्रम है कि समाधि प्राप्त योगी समाज से कट जाता है। सच यह है कि योगी की कर्मकुशलता सहस्रों गुना बढ़ जाती है। योगिराज श्रीकृष्ण इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे नर से नारायण अपनी अलौकिक कार्यकुशलता के कारण बने हैं। उन्होंने गीता मे सन्देश दिया है—

'योगः कर्मसु कौशलम्'। (2:50)

अर्थात्—योग ही कर्म में कुशलता लाता है।

बड़े-बड़े शोध, महान् रचनाएँ समाधिवत् एकाग्रता की देन है।

छन्दोबद्ध सार

पर वैराग्य, योग 'असम्प्रज्ञात' लाता
सारी चित्तवृत्ति का निरोधकाल आता है।

नयी चित्तवृत्तियाँ प्रभावशून्य होतीं तब,
संस्कारबीज तो भी शेष रह जाता है।
यही है समाधि जो सबीज कहलाती, अस्तु
पूर्वसंस्कार पुनर्जन्म दिलवाता है।
जब पूर्वसंस्कार दग्धबीज बन जाते
निर्बीज समाधि आती कैवल्य प्रदाता है।

विशेष वक्तव्य—सूत्र क्रम 16 और 18 में वर्णित अवस्था साधक की वह दिव्य स्थिति है, जब कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है अर्थात् सारे स्थूल प्राण सुषुम्णा नाड़ी में ध्यानावस्था में प्रवेश कर जाते हैं। इस परिपक्वावस्था में साधक को स्थूल शरीर और स्थूल जगत् से परे अन्तर्मुखी स्थिति में अलौकिक प्रकाशपुंज में अज्ञात सूक्ष्म के दर्शन होते हैं। सांसारिक सिद्धियाँ करतलगत होती हैं। द्रष्टव्य है कि यह भारतीय ऋषियों की दिव्य शोध है, जो वैज्ञानिक धरातल पर टिकी है। इसमें कुछ काल्पनिकता या मिथ्या की मिलावट नहीं है। तैरने के लिए पहले सीखने का प्रयास करना पड़ता है। तैरने का अभ्यास हो जाने पर सरिता को पार करना असम्भव नहीं रह जाता है। सूत्रकार आगे के सूत्रों में समाधि की उस स्थिति का वर्णन करेंगे जो जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति दिलाने वाली है।

स खल्वयं द्विविधः—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति।

वह असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की होती है— 1. उपायप्रत्यय, 2. भव-प्रत्यय। उनमें से 'उपायप्रत्यय' असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त योगियों की होती है और 'भवप्रत्यय' असम्प्रज्ञात समाधि विदेहों तथा प्रकृतिलयों की होती है। इन सभी का स्वरूप आगे के सूत्रों में बतलाया जायेगा।

❀ 'भवप्रत्यय' का कथन ❀

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥19॥

शब्दार्थ—विदेहप्रकृतिलयीनाम् = विदेह और प्रकृतिलय योगियों का योग। भवप्रत्ययः = भवप्रत्यय कहलाता है।

सूत्रार्थ—जो साधक सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति को पार करके असम्प्रज्ञात समाधि के क्षेत्र में प्रवेश के निकट पहुँच गये और शरीर छूट गया, इस स्थिति में पुनर्जन्म प्राप्त साधक की योगसिद्धि की जो सहज क्षमता है, वह 'भवप्रत्यय' कही जाती है और यह क्षमता या स्थिति विदेहों और प्रकृतिलयों की होती है।

विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः । ते हि स्वसंस्कारमात्रोपगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति । तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति ॥19॥

'विदेह'-संज्ञक देवों की 'भवप्रत्यय'-संज्ञक 'असम्प्रज्ञात' समाधि होती है । वे अपने संस्कारमात्रावशिष्ट चित्त द्वारा 'कैवल्य' प्राप्ति-जैसा अनुभव करते हुए अपने संस्कारों के अनुरूप फलों का उपभोग करते हुए समाप्त करते हैं । उसी प्रकार प्रकृतिलय अर्थात् भवप्रत्यय नामक असम्प्रज्ञात समाधि वाले प्रकृति-लीन योगी भी अकृतकृत्यचित्त के प्रकृति में लीन होने पर कैवल्यपद-प्राप्ति सदृश अनुभव करते हैं, जब तक कि उनका चित्त भोग तथा अपवर्ग के सिद्ध न करने के कारण पुनः लौकिक स्थिति में नहीं आता ।

योगदीपिका

भवप्रत्ययः—'भवस्य संसारस्य प्रत्ययः कारणमिति भवप्रत्ययः' । पूर्वोक्त 'सम्प्रज्ञात' में 'आनन्दानुगत' और 'अस्मितानुगत' समाधि भूमि पर पहुँचे साधक अखण्ड आनन्दानुभव करते हुए वहीं सन्तुष्ट हो जाते हैं और आगे बढ़ने का प्रयास नहीं करते । गीता में इन्हीं को योगभ्रष्ट कहा गया है, जिसका वर्णन छठे अध्याय के 41वें से 45वें श्लोकों तक किया गया है । तथाकथित साधक पाञ्चभौतिक शरीर कोश से ऊपर आनन्दमय कोश में प्रवेश पाकर कृतकृत्य हुए शरीर भाव को भूल जाते हैं और 'विदेहत्व' को प्राप्त हो जाते हैं । प्रकृतिलीन 'अव्यक्त' कारण शरीरधारी होते हैं । वे पाञ्चभौतिक या 'षाट्कोशिक' शरीर के बन्धनों से मुक्त दिव्यानन्दानुभूति करते हैं । इन देवकोटिक साधकों को सुख और सिद्धि तो मिलती है, किन्तु वास्तिविक स्वरूपावस्थिति न होने के कारण 'कैवल्य' नहीं मिलता; जो योग का चरम लक्ष्य है । निर्बीज समाधि द्वारा दग्धसंस्कार होने के लिए उन्हें भव अर्थात् संसार में पुनर्जन्म लेना पड़ता है । इस जन्म में योगनिर्धारित उपायों के आश्रय बिना ही उसकी असम्प्रज्ञात समाधि सिद्धि हो जाती है । उनकी निर्बीज समाधि उपायजन्य नहीं होती, उसके लिए पुनर्जन्म लेना ही पर्याप्त है । मनुष्य-जन्म लेकर संसार में आना ही यहाँ सम्प्रज्ञात योगसिद्धि का कारण है, इसीलिए इसका नाम 'भवप्रत्यय' है ।

छन्दोबद्ध सार

दग्ध संस्कार बीज हुए नहीं, छूटा देह,
इससे पुनर्जन्म योगी फिर पाता है ।

ऐसे जन्म वाला कहा जाता है विदेह योगी
बिना ही उपाय उसे मोक्ष मिल जाता है ।
पूर्वजन्मकृत सभी साधना से युक्त वह
पूर्व साधना उपाय नहीं अपनाता है ।
जगत् में जन्ममात्र कैवल्य का कारण है
इसीलिए यह 'भवप्रत्यय' कहाता है ।

⊛ सामान्य साधकों के साधनोपाय ⊛

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥20॥

शब्दार्थ—इतरेषाम् = दूसरे साधकों का (निरोधरूप योग) । श्रद्धावीर्य-स्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकः = श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक सिद्ध होता है ।

सूत्रार्थ—जो पूर्वोक्त विदेह और लय योगी नहीं हैं, उन योगियों की असम्प्रज्ञात समाधि श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा आदि उपायों से सिद्ध होती है ।

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति । श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः । सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति । तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते । समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते । स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते । समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते । येन यथावद् वस्तु जानाति । तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥20॥

(विदेह और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न) 'उपाय प्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि योगियों की होती है । 'श्रद्धा' चित्त की अभिरुचि अर्थात् तीव्र इच्छा है । वह माता के तुल्य कल्याणकारिणी होकर साधक की रक्षा करती है । श्रद्धाशील विवेकी योगी में बलोत्साह-प्रयत्न प्राबल्य उत्पन्न होता है । इस प्रकार बलोत्साह सम्पन्न योगी में स्मृति अर्थात् पूर्वकाल में किये गये योग के अनुभवों की स्मृति उपस्थित होती है । समाहित चित्त वाले ध्यानस्थ योगी को प्रज्ञा-विवेक प्राप्त होता है, जिसके द्वारा वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है । इस विवेक ज्ञान के अभ्यास से तथा तद्विषयक परवैराग्य से 'असम्प्रज्ञात समाधि' सिद्ध होती है ।

योगदीपिका

जो विदेह और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न हैं, उन्हें यदि योगाभ्यास के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है और वे साधना-पथ के पथिक बन जाते हैं, तो उन्हें निम्नलिखित उपाय अपनाना चाहिए—

1. **श्रद्धा**—आस्थापूर्वक विषय में अभिरुचि श्रद्धा है। यह श्रद्धा योगाभ्यास में उत्कट अभिलाषा जगाती है, मन को प्रसन्न रखती है और माता के समान अभिरुचि का पालन-पोषण करती है।

2. **वीर्य**—योगसाधना में तत्परतापूर्ण उत्साह का नाम वीर्य है।

3. **स्मृति**—श्रद्धा और वीर्य के संयोग से साधक की धारणाशक्ति एवं उसकी स्मृति प्रबल हो जाती है और उसमें योगसाधना के संस्कारों का बारम्बार प्राकट्य होता रहता है, अत: उसका मन विषयों से विरक्त होकर समाहित हो जाता है और समाधि की भूमि प्रशस्त हो जाती है।

4. **समाधि**—ज्ञान के संस्कारों के जाग्रत् होने पर चित्त एकाग्र और स्थिर होने लगता है। बढ़ी हुई एकाग्रता और स्थिरता समाधि का रूप धारण करती है।

5. **प्रज्ञा**—समाधिस्थ एकाग्र चित्त में ऋतम्भरा प्रज्ञा जन्म लेती है, जिससे प्रकृति-पुरुष विषयक यथार्थ का बोध होता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा से 'परवैराग्य' और परवैराग्य से 'असम्प्रज्ञात' समाधि होती है।

छन्दोबद्ध सार

जिन्हें 'भवप्रत्यय' का प्राप्त है सहारा नहीं
किन्तु योग में अगर रुचि जग जाती है।
श्रद्धा को बढ़ाये, चाव चित्त में जगाये नित्य
सोत्साह जले साधना की दीप बाती है।
जागने लगेंगे पूर्व संस्कार साधना के
यदि बलवती बनी स्मृति सुहाती है।
लगेगी समाधि प्रज्ञा जगेगी ऋतम्भरा जो
परवैराग्य को औ मुक्ति लाभ लाती है।

ते खलु नव योगिनो मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति; तद्यथा—मृदूपायो मध्योपायोऽधिमात्रोपाय इति। तत्र मृदूपायस्त्रिविधो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेग इति; तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय इति। तत्राधिमात्रोपायानाम्—

मदु, मध्य और अधिमात्र उपायों के भेद से योगी नौ प्रकार के होते हैं—मृदूपाय, मध्योपाय तथा अधिमात्रोपाय। उनमें से मृदूपाय भी तीन प्रकार के होते हैं—मृदु वैराग्य, मध्य वैराग्य और तीव्र वैराग्य। वैसे ही मध्योपाय और अधिमात्रोपाय भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनमें से 'अधिमात्रोपाय' के अन्तर्गत—

⊛ योग के शीघ्र सिद्ध होने का कारण-कथन ⊛

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥21॥

शब्दार्थ—तीव्रसंवेगानाम् = जिनके साधन की गति तीव्र है। आसन्न: = शीघ्र (सिद्ध) होती है।

सूत्रार्थ—जिन साधकों के साधना की गति तीव्र है, उनकी निर्बीज समाधि शीघ्र सिद्ध होती है।

समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥21॥

(जिनकी साधना की गति तीव्र है, उन साधकों को) समाधि की सिद्धि और तज्जनित फलों की प्राप्ति अतिशीघ्र होती है।

योगदीपिका

जिनकी साधना में जितना वेग, जितना आधिक्य, जितनी तत्परता और निरन्तरता होती है, समाधि-लाभ और उसके फलस्वरूप कैवल्य लाभ उतनी ही तीव्रता से मिलता है।

छन्दोबद्ध सार

साधना में जितनी तत्परता जो साधक लायेगा।
उतनी ही शीघ्रतापूर्वक सिद्धि-लाभ पायेगा॥

⊛ साधना में तीव्रता और सिद्धि ⊛

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥22॥

शब्दार्थ—मृदुमध्याधिमात्रत्वात् = साधन की मात्रा हल्की, मध्यम और उच्च होने के कारण। ततः = उस (मृदुतीव्र संवेग वाले के और मध्यतीव्र संवेग वालों के समाधि-लाभ) से। अपि = भी। विशेष: = विशिष्ट।

सूत्रार्थ—तीव्र संवेग वालों की अभ्यास मात्रा और तत्परता में भी तीन भेद हैं। कुछ मृदुतीव्रसंवेग, कुछ मध्यतीव्रसंवेग और कुछ अधिमात्रतीव्रसंवेग वाले होते हैं। संवेग की मात्रा में तीव्रता की मात्रा सिद्धि-काल में अन्तर बनकर आती है।

मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति, ततोऽपि विशेषः, तद्विशेषान्मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नः, ततो मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरः तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्याप्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलञ्चेति ॥22॥

उन (अधिमात्रोपाय तीव्र संवेग वाले साधकों में भी) साधना की मात्रा मृदु तीव्र, मध्य तीव्र, अधिमात्र तीव्र होने से काल का भेद हो जाता है। उस भेद-विशेष

के कारण मृदुतीव्रसंवेग वाले की समाधि-सिद्धि और समाधि-फल समीप, मध्यतीव्र-संवेग वाले उससे अधिक समीप (समीपतर) तथा अधिमात्रतीव्रसंवेग वाले और उपाय वाले साधक का उससे भी अधिक समीप (समीपतम) होता है ।

योगदीपिका

'संवेग' शब्द का अर्थ विवेक एवं वैराग्य है । तथा 'उपाय' शब्द का अर्थ **'अभ्यास'** है । समाधि-प्राप्ति के ये दोनों मुख्य साधन हैं । क्रियात्मक अभ्यास और वैराग्य के तीव्र होने पर भी उनके वैराग्य और अभ्यास की मात्रा और तीव्रता में स्तर-भेद हो सकता है । कुछ का अभ्यास और वैराग्य 'मृदु', कुछ का 'मध्य', तो कुछ का 'अधिमात्र' तीव्रसंवेग और अभ्यास वाला होता है । 'मृदु' स्तर वाले से मध्य स्तर वाले साधक की समाधि शीघ्र सिद्ध होती है, किन्तु 'अधिमात्र संवेग' और उपाय वाले की समाधि उन दोनों की अपेक्षा शीघ्र सिद्ध होती है । इन्हीं कारणों से सिद्धि काल में अन्तर आता है ।

छन्दोबद्ध सार

विवेक-वैराग्य औ अभ्यास का महत्त्व अति
सिद्धि-प्राप्ति में ये काल-भेद बना आता है ।
'तीव्रसंवेग' भी 'मृदु' 'मध्य', 'अधिमात्र' रूप
तीन भेदों वाला सुधियों में गिना जाता है ।
'मृदु' अति देर, 'मध्य' कुछ कम देर, वेग
'अधिमात्र' वाला शीघ्र सिद्धियों को लाता है ।
संवेग का ध्यान रक्खें योगिजन साधना में
'संवेग', 'उपाय' साधना में बलदाता है ।

किमेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवत्यथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो ? न वेति ?

क्या इन पूर्वकथित तीव्र संवेगादि से ही समाधि शीघ्र सिद्ध होती है अथवा इस सिद्धि-लाभ में कोई अन्य उपाय भी है, या नहीं ?

⊛ साधना में ईश्वर तत्त्व का महत्त्व ⊛

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥23॥

शब्दार्थ—वा = इसके अतिक्ति । ईश्वरप्रणिधानात् = श्रद्धा-विश्वासपूर्वक ईश्वरोपासना से भी ।

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त अधिमात्र उपाय एवं अधिमात्र तीव्रसंवेग के अतिरिक्त ईश्वर-प्रणिधान से सभी शीघ्रतम समाधि का लाभ होता है ।

प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण । तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥23॥

प्रणिधान अर्थात् भक्ति-विशेष से प्रसन्न कर अनुकूल किया गया ईश्वर-संकल्प मात्र योगी को अनुगृहीत करता है । उस ईश्वर के संकल्पमात्र से योगी को असम्प्रज्ञात समाधि-लाभ और समाधि-फल शीघ्र मिल जाता है ।

योगदीपिका

विश्व की नियामक, चेतन सर्वोच्च शक्ति ईश्वर है । जीव ईश्वर का सजातीय है । जड़-प्रकृतिजन्य त्रिगुणों के बन्धन में पड़े क्लेशित पुरुष पर उसका सहज अनुग्रह भाव रहता है । यदि समर्पित भाव से श्रद्धा-विश्वासपूर्वक साधक ईश्वरोपासना करे और दृढ़ आस्थावान् होकर प्रपन्न भाव से योगसाधना करे, ईश्वर के गुणों तथा स्वरूप का चिन्तन करे, तो बिना अधिक प्रयास के उसके अनुग्रह से शीघ्रातिशीघ्र निर्बीज समाधि-लाभ और तज्जन्य कैवल्यमुक्ति फल भी सुलभ हो सकता है । गीता में योगिराज श्रीकृष्ण ने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (गीता 9:22)

औपनिषदिक कथन भी यही प्रमाणित करता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
(मुण्डकोपनिषत् 3:2:3)

छन्दोबद्ध सार

ईश्वर भी योग के प्रयोग में सहायक है
साधना में वह पतवार बन जाता है ।
छल छोड़ नाता जोड़ शरण में जाता जो है
शरण में आये को सुशीघ्र अपनाता है ।
सर्व शक्तिमान वह ईश्वर महान, इच्छा-
मात्र से ही सिद्धि देता, विघ्न को मिटाता है ।

निर्बीज समाधि औ समाधिजन्य मुक्ति-फल
सच्चा ईश-भक्त अनायास शीघ्र पाता है ।

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ?

किन्तु प्रकृति और पुरुष से भिन्न या ईश्वर कौन है ? इसका समाधान अगले सूत्रों में बतलाते हैं ।

⊙ ईश्वर का स्वरूप ⊙

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥24॥

शब्दार्थ—क्लेशकर्मविपाकाशयैः = क्लेश, कर्म, विपाक और आशय के । अपरामृष्टः = सम्बन्ध से रहित । पुरुषविशेषः = पुरुषविशिष्ट; ईश्वरः = ईश्वर है ।

सूत्रार्थ—क्लेश, कर्म, कर्मों, के फल और वासनाओं से असम्बद्ध, अन्य पुरुषों से विशिष्ट (उत्कृष्ट) पुरुषोत्तम ईश्वर है ।

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणा वासना आशय । ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति । यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनी व्यपदिश्यते । यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः । कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः । ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी । यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्ध-कोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य । यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते, नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति । योऽसौ प्रकृष्ट-सत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्नि-र्निमित इति । तस्य शास्त्रं निमित्तम् । शास्त्रं पुनः किं निमित्तम् ? प्रकृष्ट-सत्त्वनिमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः । एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति । तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशय-विनिर्मुक्तम् । न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते । यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात् । तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः । न च तत्समानमैश्वर्य-मस्ति । कस्मात् ? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम् । द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात् । तस्माद्य-स्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः । स च पुरुषविशेष इति ॥24॥

अविद्यादि 'क्लेश' है । शुभाशुभ कर्मजन्य होने से अच्छे और बुरे कार्य 'कर्म' हैं । उनके परिणामस्वरूप कर्मफल 'विपाक' है । कर्मों के उस फलभोग से बनने

वाले संस्कार 'वासना' हैं, वही 'आशय' है । ये चारों रहते हैं मन में, तथापि मन या चित्त से पृथक् जीवात्मरूप पुरुष में आरोपित कर दिये जाते हैं, क्योंकि वह पुरुष अविवेकवशात् मन-बुद्धि आदि प्रकृति के विकार को अपना स्वरूप मान लेता है और मनोगत सुख-दुःखादि का स्वयं को भोक्ता समझ बैठता है । जैसे युद्ध में जय-पराजय तो सैनिकों की होती है, लेकिन व्यवहार रूप में वह जीत-हार राजा पर आरोपित कर दी जाती है । जो पुरुषविशेष तथाकथित सुख-दुःख भोग से सर्वथा अपरामृष्ट अर्थात् असम्पृक्त है, अछूता है, वही पुरुषविशेष ईश्वर है । फिर तो मोक्ष को प्राप्त दुःख-दोष मुक्त बहुत-से 'केवली' अर्थात् कैवल्य-प्राप्त मुक्त पुरुष भी हैं । उन्होंने प्राकृतिक, वैकारिक तथा दक्षिणा इन तीनों बन्धनों को काटकर कैवल्य प्राप्त किया है । इस तर्क का उत्तर देते हुए भाष्यकार कह रहे हैं कि ईश्वर का इन बन्धनों से न कभी सम्बन्ध हुआ था और न कभी होगा । जैसे मुक्त पुरुष तो मुक्ति के पूर्व बन्धनों में थे, किन्तु ईश्वर ऐसा कभी नहीं था। ईश्वर तो सदैव मुक्त और सदैव सर्वोपरि ईश्वर है एवं रहता आया है और रहेगा अर्थात् उसकी मुक्ति और ईश्वरत्व त्रिकाल सिद्ध है ।

यहाँ भाष्यकार प्रश्न उठाते हैं—'शुद्ध सत्त्वात्मक उपाधि धारण करने के कारण ईश्वर की जो यह सार्वकालिक सर्वज्ञता, ऐश्वर्यादि उत्कर्ष है, वे सब सप्रमाण हैं या प्रमाणरहित हैं ? इसका उत्तर है—'शास्त्र उसके प्रमाण हैं; अस्तु वे सप्रमाण हैं । भाष्यकार पुनः प्रश्न उठाते हैं—'शास्त्र स्वतः प्रमाण हैं, इसका क्या प्रमाण है ? उत्तर है—शुद्ध सत्त्वरूप ईश्वरोपाधि शास्त्र प्रमाण हैं । शास्त्र और ईश्वर के ईश्वरत्व का वाचक और वाच्यरूप में अनादि सम्बन्ध है । शास्त्र वाचक और ईश्वर वाच्य है । तात्पर्य यह है कि ईश्वर के उच्छ्वास रूप श्रुतियाँ ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता में स्वयंसिद्ध प्रमाण है । ईश्वर का यह उत्कर्ष या ऐश्वर्य 'बराबरी' और 'अतिशय' से रहित 'निरतिशय' है । जो ऐश्वर्य सर्व ऐश्वर्यों की अपेक्षा अतिशय अर्थात् अधिक हैं, वही ऐश्वर्य निरतिशय ऐश्वर्य कहा जा सकता है । जिसमें ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है, वही ईश्वर है । उसकी बराबरी का भी कोई ऐश्वर्य नहीं है । समान कोटि के दो ऐश्वर्यों को मान लेने पर कौन नया है, कौन पुराना है ? इस प्रकार का परस्पर विरोधी प्रश्न उठ खड़ा होगा । इस प्रकार के विरुद्ध संकल्प होने पर एक की संकल्पसिद्धि होने से दूसरे के अभीष्ट का खण्डन हो जायेगा । एक ऐश्वर्य में वरिष्ठता तो दूसरे में न्यूनता आ जाएगी । दोनों का सर्वथा समान होना एक साथ सिद्ध नहीं हो सकता है । नवीनता और प्राचीनता दोनों एक-दूसरे के सर्वथा विरुद्ध होने के कारण एक ही पदार्थ में एक ही काल में हो नहीं सकती । इस प्रकार जिसका ऐश्वर्य बराबरी और अतिशयिता से रहित है, वही ईश्वर है और वह एक है । उसकी बराबरी का दूसरा कोई नहीं है । वह ईश्वर एक पुरुषविशेष है, पुरुषोत्तम है ।

योगदीपिका

क्लेश—ये पञ्चसंख्यक माने गये हैं—1. अविद्या 2. अस्मिता, 3. राग, 4. द्वेषा, 5. अभिनिवेश (मरण-संत्रास)

कर्म—धर्माधर्म रूपात्मक क्रियाएँ 'कर्म' हैं ।

विपाक—कर्मों का फल 'विपाक' है ।

आशय—अन्त:करण में संचित वासनाओं का कोश 'आशय' है ।

त्रिबन्ध—1. प्राकृतिक बन्ध 2. वैकारिक बन्ध 3. दक्षिणा बन्ध ।

1. प्राकृतिक बन्ध—अव्यक्त से लेकर तन्मात्र पर्यन्त आठों प्रकृतियों में अभिमान रखना अर्थात् उनमें लिप्त होना ।

2. वैकारिकबन्ध—शब्दादि विषयों में अनुरक्ति ।

3. दक्षिणाबन्ध—गृहस्थों का कर्म, दक्षिणा, दान, अध्ययन, इष्टापूर्तादि में अनुरक्ति ।

ये तीनों बन्ध 'केवली पुरुषों' अर्थात् कैवल्य-प्राप्त पुरुषों में कट चुके होते हैं, परन्तु कैवल्यप्राप्ति के पूर्व व्युत्थानकाल में ये उनमें भी विद्यमान थे, किन्तु ईश्वर में कभी नहीं थे । यही केवली पुरुष और ईश्वर में भेद है । इस प्रकार कैवल्यप्राप्त पुरुष ईश्वरतुल्य हो सकता है, ईश्वर नहीं । पूर्वोक्त अविद्यादि क्लेश, कर्म, विपाक, आशय और बन्धों से मुक्त जीव विमुक्त होते हैं; लेकिन पहले ये इनसे ग्रस्त थे, किन्तु ईश्वर का इनसे कभी भी सम्बन्ध नहीं था और न होगा, इस कारण मुक्त पुरुषों से भी ईश्वर विशिष्ट है और इसीलिए सूत्रकार ने ईश्वर के लिए 'पुरुषविशेष:' पद का प्रयोग किया है ।

छन्दोबद्ध सार

पुरुष प्रकृति साहचार्य वश क्लेश, कर्म
कर्म-फल, वासना से युक्त दिखलाता है ।
किन्तु क्लेश, कर्म, कर्म-फल, वासनाविमुक्त
पुरुष विशेष वही ईश्वर कहाता है ।
तीनों काल में न दु:ख दोष का है लेश जहाँ
सर्वशक्तिमान् एकरूप माना जाता है ।
उसके बराबर या उससे बड़ा न कोई
इच्छामात्र से ही मुक्ति-फल का प्रदाता है ।

किञ्च–

और भी—

⊙ ईश्वर ज्ञान की पराकाष्ठा है ⊙

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥25॥

शब्दार्थ—तत्र = वहाँ ईश्वर में । सर्वज्ञबीजम् = सर्वज्ञता का कारण (ज्ञान) निरतिशयम् = पराकाष्ठा पर हैं ।

सूत्रार्थ—उस ईश्वर मे सर्वज्ञता का मूलकारण ज्ञान अपनी पराकाष्ठा पर है ।

यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्धि वर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः । अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात्परिमाणवदिति । यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः । स च पुरुषविशेष इति । सामान्यमात्रोपसंहारे च कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति । तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या । तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् 'ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामी'ति । तथा चोक्तम्—'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचे'ति ॥25॥

यह जो किसी का वर्तमान विषयक, तो किसी का भूत, वर्तमान, भविष्य विषयक; किसी का एक विषयक, किसी का अनेक विषयक, किसी का स्थूल तो किसी का सूक्ष्म विषयक ग्रहण ज्ञान है, वह सत्त्वगुण के न्यूनाधिक्य के कारण किसी में स्वल्प तो किसी में अधिक होता है । यही ज्ञान सर्वज्ञता का बीज अर्थात् मूल कारण है । यह विवर्धित हुआ ज्ञान जहाँ अपनी चरम पराकाष्ठा पर विद्यमान रहता है, वही सर्वज्ञ ईश्वर है और वही पुरुषविशेष पुरुषोत्तम है । अनुमानप्रमाण में किसी पदार्थ के विशेष अर्थबोधन की क्षमता नहीं है, वह सामान्य के बोधन में ही सक्षम हो पाता है । इसलिए ईश्वर के नाम इत्यादि का बोध आगमप्रमाण अर्थात् वेद-शास्त्र के आधार पर करना चाहिए ।

उस ईश्वर का अपना कोई स्वार्थ सम्बन्ध नहीं है, फिर प्राणियों पर अनुग्रह भाव उसका स्वभाव है और यही उसका स्वार्थ-प्रयोजन है । ज्ञान तथा धर्मोपदेश द्वारा प्रलय और महाप्रलय में फँसे हुए सांसारिक पुरुषों का उद्धार करूँगा, ऐसा कृपा-भाव उसमें बना रहता है । उदाहरणार्थ आदिविद्वान् सिद्ध कपिल मुनि ने जिज्ञासु शिष्य आसुरि को करुणाभाव के कारण ही बिना किसी स्वार्थ के योग-निर्मित शरीर धारण कर सांख्यशास्त्र का उपदेश दिया था ।

योगदीपिका

यद्यपि ज्ञान सभी में होता है, किन्तु वह एकाङ्गी होता है । सर्वाङ्गीण ज्ञान या ज्ञान की पराकाष्ठा जहाँ है, वह ईश्वर है । जिस प्रकार ईश्वर में ज्ञान की पराकाष्ठा है, उसी प्रकार धर्म, वैराग्य, यश और ऐश्वर्यादि की पराकाष्ठा भी वहीं है, ऐसा समझना चाहिए । ईश्वर हेतुरहित कृपालु है । कष्टों में पड़े जीवों का उद्धार उसका स्वभाव है ।

छन्दोबद्ध सार

ईश्वर सर्वज्ञ सारे ज्ञान का निधान वह
उससे बड़ा न कोई अन्य दृष्टि आता है ।
ज्ञान में, दया में अन्य उस-सा न दृश्यमान
उस-सा महान न जहान में दिखाता है ।
दु:खितों के प्रति दयाभाव उसका स्वभाव
कष्ट से उबार लेना उसे अति भाता है ।
ध्यान करो उसी शक्तिमान का, कल्याण हेतु
वही सिद्धिदाता, मुक्तिदाता है, विधाता है ।

स एषः–

वह ईश्वर—

❁ ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है ❁

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥26॥

शब्दार्थ—पूर्वेषाम् = पूर्व में उत्पन्न ब्रह्मादिकों का । अपि = भी । गुरुः = गुरु है । कालेन = काल द्वारा । अनवच्छेदात् = अवच्छिन्न (परिमित) न होने के कारण ।

सूत्रार्थ—काल की सीमा से परे हाने के कारण ईश्वर पूर्वोत्पन्न देवों-ब्रह्मादिकों का भी पूर्वज है और उनको भी ज्ञान देने के कारण उन सभी का गुरु है ।

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते, स एष पूर्वेषामपि गुरुः, यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥26॥

पूर्वोत्पन्न गुरुगण समय से अवच्छिन्न अर्थात् काल की सीमा में आबद्ध थे । जिसे समय की सीमा में बाँधने के लिए काल भी समुद्यत नहीं हो पाता अर्थात् जो

कालातीत है । वह ईश्वर पूर्वकालिक गुरुओं का भी गुरु है । वह जिस प्रकार इस सृष्टि के पहले अपने परमोत्कृष्ट ऐश्वर्य के साथ विद्यमान था, वैसे ही विगत सृष्टियों में भी विद्यमान था, ऐसा समझा जाना चाहिए ।

योगदीपिका

ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता के प्रतिपादन के संदर्भ में सूत्रकार का कथन है कि जैसे ब्रह्मादि देव और प्राचीनतम ऋषिगण सृष्टि के पूर्व और महाप्रलय के अनन्तर अविद्यान रहने के कारण कालपरिच्छिन्न अर्थात् काल की सीमा में आबद्ध, आदि-अन्त को प्राप्त होने वाले हैं; वैसा ईश्वर नहीं हैं । वह कालातीत और काल का भी काल है । उसने सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को वेद का ज्ञान दिया है; यथा—

'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' । (श्रीमद्भागवत 1:1:1)

इस प्रकार वह ईश्वर ब्रह्मादि का उपदेशक गुरु है । वह सर्वश्रेष्ठ है, पुरुष-पुराण, पुरुषोत्तम है, समुद्र से आहरित अनेक घटों में संचित जलों में समुद्र के जल के गुण तो हैं, किन्तु वे समुद्र नहीं है, पुरुष और पुरुषोत्तमगत भेद को कुछ इसी प्रकार समझना चाहिए ।

छन्दोबद्ध सार

कालातीत, ज्ञानातीत आदि-अन्त-हीन, सभी
गुरुओं का गुरु वह ईश्वर कहाता है ।
ब्रह्मादिकों का, सनकादि कपिलादिकों का
पूर्वज है और गुरुज्ञान का प्रदाता है ।
वर्तमान सृष्टि-पूर्व विद्यमान जैसे, वैसे
पूर्वसृष्टियों में विद्यमान जाना जाता है ।
पुरुष पुराण, पुरुषोत्तम महान वह
ज्ञान-ज्योति ज्ञानियों में वह ही जलाता है ।

ईश्वर का वास्तविक नाम

तस्य वाचकः प्रणवः ॥27॥

शब्दार्थ—तस्य = उस ईश्वर का । वचकः = बोधक शब्द (नाम) । प्रणवः = ओ३म् है ।

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त ईश्वर के नाम का बोधक शब्द ओ३म् है ।

वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य । किमस्य सङ्केतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीप-प्रकाशवदवस्थितमिति । स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः । सङ्केतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति । यथाऽवस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः सङ्केतनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति । सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव सङ्केतः क्रियते । सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते ॥27॥

'प्रणव' का वाच्य 'ईश्वर' है । क्या इस प्रणव (ओ३म्) का वाच्य-वाचक सम्बन्ध संकेतरूप है ? अथवा प्रदीप से प्रकाशित पदार्थ की भाँति पूर्व से ही विद्यमान का द्योतन कराने वाला है । इस वाच्य ईश्वर का वाचक प्रणव के साथ पहले से ही सम्बन्ध विद्यमान है । यह संकेत ईश्वर के साथ विद्यमान सम्बन्ध का ही द्योतन करता है । जैसे पिता-पुत्र का पूर्व से ही विद्यमान सम्बन्ध संकेत के द्वारा सूचित किया जाता है कि यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है । इस प्रकार यह जन्य-जनक भाव सम्बन्ध पहले से ही चला आया होता है, कथन मात्र से प्रारम्भ नहीं होता है । कथन तो संकेत मात्र है । वर्तमान के पूर्व अन्य सभी सर्गों में भी ईश्वर और ओ३म् का वाच्य-वाचकत्व सम्बन्ध स्थित रहता आया है । सदृश व्यवहार-परम्परा के प्रवाह रूप से नित्य होने से शब्द तथा अर्थ का वाच्य-वाचकत्व सम्बन्ध नित्य है; ऐसी आगमशास्त्रकारों की मान्यता है ।

योगदीपिका

जो शब्द किसी अर्थविशेष या वस्तुविशेष का बोध कराता है, वह वाचक है और उस शब्द से जिस अर्थ या वस्तु का ज्ञान होता है, वह वाच्य है । जैसे कमल शब्द 'वाचक' है और पंखुड़ियों से युक्त जल में उत्पन्न होकर खिलने वाला पुष्पविशेष 'वाच्य' है । यहाँ वर्तमान प्रसंग में प्रणव (ओ३म्) शब्द वाचक और सर्वशक्तिमान् ईश्वर वाच्य है । यह ओ३म् शब्द ईश्वर का यथार्थबोधक प्राचीनतम नाम है । यह वाचक-वाच्य अथवा नाम और नामी का सम्बन्ध ईश्वर की ही भाँति अनादि है । यह कोई गढ़ा हुआ कृत्रिम नहीं है, अपितु ईश्वर की ही भाँति शाश्वत है ।

'प्रकर्षेण नूयते स्तूयते इति प्रणवः' जिस शब्द द्वारा उत्कृष्ट रीति से स्तुति की जाती है, वह 'प्रणव' है । प्रणव के पर्याय रूप में व्यवहृत 'ओम्' शब्द की सिद्धि इस प्रकार होती है—'अवतीति ओम्' जो रक्षा करे वह ओम् है । योगसाधना में ईश्वर के वैशिष्ट्य-निरूपण के बाद उसे किस नाम से याद किया जाय, इस आशय की पूर्ति के लिए यह सूत्र विरचित है । ओम् शब्द बड़ा ही सारगर्भित और व्यञ्जक है । ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति विस्फोट से हुई । विस्फोट की ध्वनितरंगें वर्णमाला के 'अ' से लेकर 'म' तक के वर्णों में निहित है । 'ओम्' शब्द में 'अ' से प्रारम्भ होकर 'म'

तक के वर्णों का सूत्रवत् समवाय है । ओम् के अ, उ, म् ये तीनों वर्ण प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस्—इन तीनों गुणों से निर्मित सृष्टि के सूत्रधार हैं । त्रिदेवों अर्थात् रचना, पालन और संहार शक्ति से समन्वित देवों का संकेत करते हैं । नाम और नामी का घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसीलिए शास्त्रों में नाम-जप की बड़ी महिमा है । गीता में जप-यज्ञ को सभी यज्ञों में श्रेष्ठ बताया गया है (गीता 10:25) । ओम् नाम स्मरण कर प्राणत्याग करने से परमगति मिलती है (गीता 8:13) ।

छन्दोबद्ध सार

ओ३म् ईश का नाम है, कहते वेद पुकार ।
उसके सुमिरन मनन से, होता है उद्धार ।।
सिद्धि साधना में मिले, बनें ईश अनुकूल ।
विघ्न नष्ट होते सकल, मिटते पथ के शूल ।।

विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः—

वाच्य-वाचक सम्बन्ध के ज्ञाता योगियों की—

ॐ ओ३म् नाम-जाप की प्रयोग-विधि ॐ

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।।28।।

शब्दार्थ—तज्जपः = उस ओ३म् नाम का जप (और) तदर्थभावनम् = उसके अर्थस्वरूप परमेश्वर का चिन्तन ।

सूत्रार्थ—उस परमेश्वर के आदि मुख्य नाम ओ३म् का जप करे और उसके अर्थरूप परमेश्वर के सिद्धिदायक सर्वशक्तिमान् स्वरूप का अनवरत चिन्तन करे ।

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम् । तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथा चोक्तम्—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।। इति ।।28।।

ईश्वर के नाम ओम् का जप करे और ओङ्कार के वाच्यार्थ परमेश्वर के गुणों की भावना करे । इस प्रकार ओम् को जपते हुए तथा उसके अर्थस्वरूप ईश्वर की भावना करते हुए योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है । ऐसा कहा भी गया है—

ओम् के जप के पश्चात् योग-साधना करनी चाहिए और योगसाधना के बाद भी जप करना चाहिए । जप और योग की सिद्धि से परमात्मा का साक्षात्कार होता है ।

योगदीपिका

ओ३म् का मानसिक जप करना चाहिए और उसका वाच्यार्थ जो ईश्वर है, उसके उन गुणों का जो विशेषरूप से सूत्रक्रम 24, 25 और 26 में बताये गये हैं, भावनापूर्वक पुनः-पुनः चिन्तन-मनन करना चाहिए। यही ईश्वरप्रणिधान है। चित्त को सभी ओर से निवृत्त कर ईश्वर में प्रवृत्त कर स्थिर कर देने का नाम भावना है। इस भावना से अविद्यादि क्लेश और वासनाओं के संस्कार धुल जाते है। अन्तर्मुखी सकारात्मक विचार ऊर्जा पुंजीभूत होकर सिद्धि का पथ प्रशस्त कर देती है। ओम् की ध्वनि-तरंगों से भीतर के सक्रिय विद्युत्प्रवाह से जो सूक्ष्म रासायनिक प्रक्रिया शरीर में होती है, उससे हार्मोन्स सन्तुलित होते हैं और विभिन्न स्रोतसों (Channels) में संचित मल खण्डित होते हैं। तन-मन दोनों निर्विकार होकर योग की स्वस्थ सिद्धि-भूमि का निर्माण करते हैं।

छन्दोबद्ध सार

ओम् नाम का जाप कर, करो अर्थ का ध्यान।
ऐसा करने से सदा, होता है कल्याण ॥
ईश्वर के गुण का स्मरण करिये बारंबार।
इससे अद्भुत चेतना का होगा संचार ॥
होगा सकरुण ईश वह, होंगे दूर विकार।
खुल जायेगा शीघ्र ही योगसिद्धि का द्वार ॥

किञ्चास्य भवति ?

इससे (साधक को) और क्या प्राप्त होता है ? (इसका कथन अग्रिम सूत्र में है)।

⊛ ईश्वर के नाम-जप और स्वरूप-चिन्तन का फल ⊛

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥29॥

शब्दार्थ—ततः = तब। अन्तराय = विघ्न। अभावः = समाप्ति, शून्यता। च = और। प्रत्यक्चेतना = आत्मज्ञान। अधिगमः = आगमन।

सूत्रार्थ—ईश्वर के नाम-जप और स्वरूप का चिन्तन करने से साधक के साधना-पथ के विघ्न दूर होते हैं और आत्मज्ञान का आगमन होता है।

ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥29॥

रोग-व्याधि आदि जो योगमार्ग के विघ्न हैं, वे सब पूर्वोक्त ईश्वरप्रणिधान से नहीं होने पाते हैं और साधक को आत्मज्ञान भी उपलब्ध होता है। जैसे ईश्वर शुद्ध, दु:खादि रहित केवल आनन्दरूप है और कर्म-फलभोग से असम्पृक्त पुरुष है, वैसे ही बुद्धि का साक्षी यह पुरुष भी है—इस प्रकार का आत्मज्ञान साधक को हो जाता है।

योगदीपिका

अग्रिम दो सूत्रों क्रम 30 और 31 में योगमार्ग के जिन विघ्नों की चर्चा है, पूर्वोक्त रीति से ईश्वरप्रणिधान के द्वारा दूर हो जाते हैं और साधक को अपने द्रष्टास्वरूप के ज्ञान द्वारा कैवल्य अवस्था की उपलब्धि होती है; अतः यह ईश्वरप्रणिधान निर्बीज समाधि की प्राप्ति का सरल और सफल उपाय है।

छन्दोबद्ध सार

ईश्वर के प्रणिधान के, हैं ये लाभ महान।
होते विघ्न विनष्ट सब, होता आतम ज्ञान॥
अविद्यादि जो क्लेश हैं, होता उनका नाश।
पाते हैं कैवल्यपद, साधक बिना प्रयास॥

अथ केऽन्तरायाः ये चित्तस्य विक्षेपाः ? के पुनस्ते कियन्तो वेति ?

अब वे कौन अन्तराय (विघ्न) हैं, जो चित्त में विक्षेप उत्पन्न करते हैं ? फिर वे कितने और किस स्वरूप वाले हैं ? (यह बताया जायेगा)।

⊛ योगमार्ग के विघ्न ⊛

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्ध-भूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥30॥

शब्दार्थ—व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वा-नवस्थितत्वानि = व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व—ये नौ। चित्तविक्षेपाः = चित्त के विक्षेप। ते = वे ही। अन्तरायाः = विघ्न।

सूत्रार्थ—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व—ये चित्त के नौ विक्षेप ही योगमार्ग के विघ्न हैं।

नवाऽन्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः। सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति। एतेषा-मभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। तत्र व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्।

स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य । संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति । प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम् । आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः । अविरतिश्चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्धः । भ्रान्ति-दर्शनं विपर्ययज्ञानम् । अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः अनवस्थितत्वं लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा । समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्या-दिति । एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्य-भिधीयन्ते ॥30॥

ये नौ विघ्न ही चित्त के विक्षेप हैं । ये विघ्न चित्तवृत्तियों के साथ ही होते हैं । इनके न होने पर पूर्वोक्त चित्तवृत्तियाँ नहीं होती हैं । धातु, रस और इन्द्रिय का वैषम्य या कुपित होना अथवा क्षीणता 'व्याधि' है । 'स्त्यान' चित्त की अकर्मण्यता है । उभयकोटि-स्पर्शी ज्ञान अर्थात् यह होगा या नहीं हो पायेगा, 'संशय' है । समाधि के साधनों में उत्साहपूर्वक प्रवृत्त न होना 'प्रमाद' है । शरीर और चित्त में भारीपन होने के कारण योगसाधना में प्रवृत्ति न होना 'आलस्य' है । चित्त की विषयों के साथ सम्पर्क की आकांक्षा से हृदय में वैराग्य भाव का अभाव 'अविरति' है । मिथ्याज्ञान 'भ्रान्तिदर्शन' है । योगभूमियों का लाभ न होना 'अलब्धभूमिकत्व' है और प्राप्त हुई भूमिका में चित्त का प्रतिष्ठित न होना 'अनवस्थितत्व' है । अन्तिम भूमिक समाधि का लाभ होने पर ही चित्तस्वरूप में स्थित होता है । ये कथित नौ चित्त के विक्षेप योग के 'मल' हैं । ये योग के 'शत्रु' और योग में 'विघ्न' कहे जाते हैं ।

योगदीपिका

(1) **व्याधि**—वात, पित्त, कफ ये त्रिदोष हैं, इनके विषम होने पर शरीर रुग्ण हो जाता है । रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात धातुएँ हैं । इनके चयापचय (metabolism) में विघ्न अर्थात् एक धातु का दूसरे धातु में परिवर्तित न होना, परिपाक न होना धातुवैषम्य है । इस विषमता से शरीर क्षीण होकर रुग्ण हो जाता है और योगसाधना की क्षमता नष्ट हो जाती है । हाथ, पैर, नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियों का ठीक-ठीक कार्य न कर पाना इन्द्रिय-वैषम्य है । इन सब कारणों से रोगग्रस्त शरीर योगसाधना के योग्य नहीं रह जाता है । इसीलिए शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिए योग में विविध आसनों का आविष्कार किया गया है । (2) **स्त्यान**—अकर्मण्यतावश साधना में प्रवृत्त न हो पाने का स्वभाव 'स्त्यान' है । (3) **संशय**—अपनी सामर्थ्य अथवा योग के फल में सन्देह हो जाना 'संशय' है । (4) **प्रमाद**—योगानुष्ठान की अवहेलना कर सोत्साह प्रवृत्त न होना 'प्रमाद' है । (5) **आलस्य**—तमोगुण की अधिकता से चित्त और शरीर में भारीपन बने रहना और साधना में टाल-मटोले कर प्रवृत्त न होना 'आलस्य' है । (6) **अविरति**—विषयाशक्ति आ जाना और चित्त में वैराग्य का अभाव हो जाना 'अविरति' है । (7)

भ्रान्तिदर्शन—योगसाधना को किन्हीं कारणों से अनुपयोगी और हानिकर समझना भ्रान्तिदर्शन है । (8) **अलब्धभूमिकत्व**—साधना करने पर भी किये किसी कारण से योग में प्रगति न हो पाना 'अलब्धभूमिकत्व' है । इससे साधक का उत्साह नष्ट हो जाता है । (9) **अनवस्थितत्व**—समाधि-भूमि को पाकर भी चित्त का न ठहर पाना और समाधि का छूट जाना अनवस्थितत्त्व है ।

उपर्युक्त नौ विकार योगमार्ग के विघ्न अथवा शत्रु हैं । ये साधक को साधना से विचलित कर देते हैं । ये चित्तवृत्तियों के चञ्चल अथवा विकृत होने पर अस्थिरता की अवस्था में होते हैं, अस्तु सर्वशक्तिमान परमपुरुष परमात्मा से शक्ति माँगे, श्रद्धा-विश्वासपूर्वक योगाभ्यास करता जाये, आहार-विहार-सदाचार से सत्त्वगुण अथवा सकारात्मक भाव का विकास करे । आसन-व्यायाम से शरीर स्वस्थ रखे । तन-मन को स्वस्थ कर चित्तवृत्तियों को एकाग्र करने का अभ्यास करे, धैर्य रखे, गीतादि ग्रन्थों का अध्ययन करे, मन को प्रसन्न रखे और योगशास्त्र में कथित उपायों का अवलम्बन ले ।

छन्दोबद्ध सार

चल चित्तवृत्तियों के सहवासी विघ्न नौ हैं
शत्रु योगमार्ग के विक्षेप बतलाते हैं ।
'व्याधि 'अकर्मण्यता' 'प्रमाद' 'संशय' के साथ
'आलस्य' 'अलब्धभूमिकत्व' को गिनाते हैं ।
'अविरति' 'भ्रान्ति' 'अनवस्थितत्व' कहे जाते
योगसाधना से दूर साधक को ले जाते हैं ।
ईश्वर का ध्यान करो, धैर्य धरो, डरो मत
सोत्साह आगे बढ़ो, उपाय सुझाते हैं ।

❀ योग-साधना में बाधक पाँच दूसरे विक्षेपों का कथन ❀

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥31॥

शब्दार्थ—दुःख = दुःख । दौर्मनस्य = क्षोभ । अङ्गमेजयत्व = अङ्गों में कम्पन । श्वास = भीतर फेफड़े में जाने वाला वायु । प्रश्वास = नासिका से बाहर आने वाला वायु । विक्षेपसहभुवः = विक्षेपों के साथ होने वाले हैं ।

सूत्रार्थ—दुःख, दौर्मनस्य, अंगकम्पन, श्वास और प्रश्वास—ये पूर्वोक्त नौ विक्षेपों के साथी उपविक्षेप हैं ।

दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकञ्च । येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम् । दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः । यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम् । प्राणो यद् बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः । यत्कोष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः । एते विक्षेपसहभुवः । विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति । समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति ॥31॥

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—ये दुःख की तीन श्रेणियाँ हैं। जिनसे प्रपीड़ित प्राणी उनके विनाश हेतु प्रयत्न करते हैं, वह 'दुःख' है। इच्छा-पूर्ति न हो पाने पर चित्त का विक्षोभ 'दौर्मनस्य' है। जो अंगों में कम्पन उत्पन्न करता है, वह 'अंगमेजयत्व' है। प्राणी बाहर से जो वायु ग्रहण करता है, वह 'श्वास' है और भीतर की जिस वायु को प्राणी बाहर निकालता है, वह 'प्रश्वास' है। ये विक्षेपों के साथी हैं। एकाग्रचित्त वाले साधक में ये नहीं होते हैं।

योगदीपिका

अनिच्छित प्रतिकूल परिस्थिति में जो पीड़ा होती है, वह 'दुःख' है। इच्छा की पूर्ति न होने पर जो मानसिक क्लेश होता है, वह 'क्षोभ' है। वात-विकार से अंगों में कम्पन 'अंगमेजयत्व' है, इच्छा के विपरीत श्वास का आना और जाना ये भी विक्षेप हैं। वायु की चलावस्था में चित्त चंचल रहता है और अभ्यासपूर्वक कुम्भक अवस्था में वायु के सहज रूप से रुक जाने पर चित्त स्थिर हो जाता है। 'चलो वायुश्चलं चित्तम्' यह प्राणायाम अभ्यासियों की सहज मान्यता है। इस प्रकार प्राणवायु पर अधिकार न हो पाना भी सहयोगी विक्षेप है। प्रथम कथित विक्षेप दुःख के तीन भेद माने गये हैं—1. आध्यात्मिक, 2. आधिभौतिक, 3. आधिदैविक।

काम-क्रोधादि विकारों से उत्पन्न मानस परिताप और आधि-व्याधिजन्य शारीरिक परिताप आध्यात्मिक दुःख हैं। सिंह, सर्पादिजन्य दुःख आधिभौतिक है। विद्युत्पात, अतिवर्षण, अग्निप्रकोप, बाढ़, आँधी-तूफान, चक्रवात, भूचाल आदि आधिदैविक दुःख हैं। उपर्युक्त सभी दुःख विक्षिप्त चित्त वालों को पीड़ित करते हैं जो एकाग्रचित्त समाधि हैं, उन्हें ये दुःख नहीं दे पाते हैं। दुःख एक अनुभूति है। जब साधक दुःख को दुःख मानता ही नहीं; उन्हें समभाव से सह लेता है, तब उसे विकारजन्य बाधाएँ बाधित नहीं कर पाती हैं।

छन्दोबद्ध सार

दुःख, दौर्मनस्य, अंगकम्प, श्वास और प्रश्वास
पाँच सहयोगी अन्तराय माने जाते हैं।
दैहिक, दैविक औ भौतिक ये तीन ताप
'दुःख' कहलाते जो कि चित्त को सताते हैं।

इच्छा जो न पूरी होती मानसिक क्षोभ होता
यही क्षोभ 'दौर्मनस्य' होता बतलाते हैं ।
'अंगकम्प', 'श्वास' और 'प्रश्वास' अनियन्त्रित ये
सभी योग-साधना में विघ्न बने आते हैं ।

अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्यभ्यां निरोद्धव्याः । तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह—

ये समस्त विक्षेप समाधि के प्रतिपक्षी (विरोधी) हैं । ये अभ्यास और वैराग्य द्वारा निवारणीय है । अब उनमें से अभ्यास-विषयक उपसंहार के रूप में यह सूत्र कथित है ।

⊛ विघ्न-विनाश का उपाय - एक तत्त्व का अभ्यास ⊛

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥32॥

शब्दार्थ—तत् = उन (पूर्वोक्त विक्षेपों और उपविक्षेपों के) । प्रतिषेधार्थम् = दूर करने के लिए । एकतत्त्वाभ्यासः = एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिए ।

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त विक्षेपों और उपविक्षेपों को दूर करने के लिए चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए अभिमत किसी एक तत्त्व का निष्ठापूर्वक निरन्तर अभ्यास करना चाहिए ।

विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यसेत् । यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तम् । यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम् । योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते, तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात् । अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति । यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्नथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत् । अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् । कथञ्चित् समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति । किञ्च स्वात्मानुभवापह्नवश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति । कथम् ? यदहमद्राक्षं तत् स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत् पश्यामीत्यहमिति प्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः । एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः कथम-

त्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानं सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् ? स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः । न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते । प्रमाणान्तरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम् ॥32॥

विक्षेपों को रोकने के लिए किसी एक तत्त्व में चित्त को टिकाकर योगाभ्यास करना चाहिए । जिसके मत में चित्त प्रत्यर्थनियत अत: प्रत्यय मात्र अर्थात् आधार शून्य, केवल वृत्तिरूप और क्षणिक है, उसके मत में समग्र चित्त ही एकाग्र होगा, विक्षिप्त चित्त नाम का कुछ भी नहीं रहेगा । यदि यह सभी ओर से हटाकर एक वस्तु में एकाग्र किया जाता है, तब एकाग्र होता है, तो वह प्रत्येक पदार्थ के लिए निश्चित नहीं कहा जा सकता है । अर्थात् एक-एक पदार्थ के लिए एक-एक चित्त नहीं कहा जा सकता है । जो भी सदृश ज्ञान-प्रवाहों के कारण चित्त को एकाग्र मानता है, उसकी एकाग्रता यदि प्रवाह चित्त का धर्म है, तो चित्त के क्षणिक होने से एक प्रवाह चित्त नहीं है । यदि यह एकाग्रता प्रवाहांश भूत ज्ञान का धर्म है, तो इस प्रकार से सभी चित्त चाहे वे सदृश ज्ञान-प्रवाह के अंश हों या असदृश ज्ञान प्रवाह के अंश हों, प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ के लिए निश्चित होने के कारण ही हुए, तब विक्षिप्त चित्त ही सिद्ध नहीं होता, इसलिए अनेक पदार्थों के लिए अवस्थित चित्त एक ही है ।

यदि एक चित्त से असम्बद्ध भिन्न-भिन्न ज्ञान उत्पन्न होते हैं, ऐसा माना जाय तो अन्य चित्त के द्वारा देखे गये पदार्थ का स्मरण करने वाला अन्य चित्त कैसे हो सकता है ? अन्य चित्त द्वारा अर्जित कर्माशय का उपभोग करने वाला चित्त अन्य कैसे हो सकता है ? किसी प्रकार से समाधान कर भी लिया जाये तो भी यह 'गोपायसीयन्याय' से अनुपयुक्त है ।

इसमें और भी दोष हैं—अन्य-अन्य चित्त मानने पर अपने आप का भी अनुभव नहीं हो सकता है । कैसे ? जिसको मैंने देखा था, उसको छूता हूँ और जिसको छुआ था उसको देख रहा हूँ, ऐसा प्रत्येक का अनुभवात्मक ज्ञान ज्ञानों के भिन्न-भिन्न होने पर भी एक और ज्ञाता में अभिन्न रूप से उपस्थित रहता है । एक ही रूप से अनुभव में आने वाला 'मैं' ऐसा ज्ञान अलग-अलग चित्तों में स्थित रहता हुआ एक सामान्य ज्ञाता का बोध कैसे कर सकता है ? एक समान रहने वाला 'मैं' का ज्ञान अपने-अपने निजी अनुभव का विषय है । प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व अन्य प्रमाणों के द्वारा कम नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अन्य प्रमाण प्रत्यक्षप्रमाण के बल पर ही व्यवहार में आते हैं । इस कारण अनेक अर्थों में विद्यमान रहने वाला चित्त एक है ।

योगदीपिका

पूर्वोक्त दोनों प्रकार के विघ्नों का नाश ईश्वरप्रणिधान से तो होता ही है, इसके अतिरिक्त किसी एक वस्तु में चित्त को स्थिर करने का बार-बार का प्रयत्न भी

एकाग्रता को उत्पन्न कर विघ्नों के विनाश में सामर्थ्य उत्पन्न करता है । इस प्रकार समर्थ, साधना-सहायक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एक ईश्वर वह एक तत्त्व हो सकता है, जिसकी चर्चा सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्रक्रम 32 में की है । वैराग्य संवलित वह अभ्यास भी एक उपाय हो सकता है जिसके द्वारा सूत्रक्रम 30 और 39 मे वर्णित 14 (9+5) योगमार्ग के विघ्न नष्ट हो सकते हैं ।

प्रस्तुत सूत्र के भाष्य के सन्दर्भ में भाष्यकार ने बौद्धों के क्षणिकवाद के सिद्धान्त का सतर्क खण्डन किया है । क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धों का कथन है—'सर्वं खलु क्षणिकं क्षणिकम्' । उनके मत में समस्त पदार्थ क्षणिक हैं । जो वस्तु एक क्षण में उत्पन्न होकर दूसरे क्षण में नष्ट हो जाय, उसे क्षणिक कहते हैं । चित्त भी क्षणिक है और क्षणिक होने से एक वस्तु को ग्रहण करने वाला चित्त दूसरे क्षण मे नष्ट हो जाता है और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है । विनाश या परिवर्तन की गति इतनी तीव्र होती है कि स्थायी एकाग्रता सम्भव ही नहीं हो सकती है । चित्त और ध्येय विषयवस्तु के निरन्तर नष्ट या परिवर्तित होते रहने से एकाग्रता सम्भव ही नही है । भाष्यकार के अनुसार क्षणिकवादी बौद्धों का सिद्धान्त प्रत्यक्षप्रमाण से पूर्ण खण्डित हो जाता है । प्रत्यक्षप्रमाण अनुमानादिक अन्य प्रमाणों का आधार है, अस्तु प्रथम मान्य है । एक चित्त ने भंग पिया, फिर दूसरे क्षण वह चित्त नष्ट हो गया तो फिर नशे में कैसे अनेक क्षणों तक स्थिर रह सका ? भंग पीने वाला बड़ी देर तक नशा के प्रभाव में रहता है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है । बचपन की स्मृतियाँ वृद्धावस्था तक बनी रहती हैं। यदि पदार्थों में स्थिरता न होती तो कोई प्रयोग और प्रयोगों पर आधारित आविष्कार सम्भव ही नहीं हो पाते । इससे स्पष्ट है कि अनेक चित्तवृत्तियों का आश्रयभूत चित्त क्षणिक नहीं, अपितु स्थिर है । उस पर स्थिर योगभ्यास किया जा सकता है ।

छन्दोबद्ध सार

योग के विरोधी इन विघ्नों के विनाश हेतु
एकतत्त्व का अभ्यास करना ही चाहिए ।
एक वह ईश्वर है, वही है महान एक,
ध्यान उसका प्रधान धरना ही चाहिए ।
किसी एक वस्तु पर चित्त को एकाग्र कर
चित्तवृत्ति चपलता रहना ही चाहिए ।
ओम् का उच्चार कर मान उपचार उसे
साधक को योग में उतरना ही चाहिए ।

यस्य चित्तस्यावस्थितस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम् ?

जिस चित्त के लिए योगशास्त्र में सम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचने वाले अनेक 'परिकर्म' के निर्देश किये गये हैं, वे किस प्रकार के हैं, इसका कथन अगले सूत्रों में हैं। (प्रारम्भिक चित्त-शोधन की क्रिया 'परिकर्म' है)।

⊛ चित्त को प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रखने के उपाय ⊛

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥33॥

शब्दार्थ—सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम् = सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापात्मा—ये चारों जिनके क्रम से विषय हैं। मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम् = मैत्री, करुणा, प्रसन्नता और उपेक्षा की। भावनातः = भावना से। चित्तप्रसादनम् = चित्त प्रसन्न होता है।

सूत्रार्थ—सुखियों से इर्ष्या-द्वेषादि न रख कर मित्रता के भाव रखना, दुःखियों के प्रति करुणा के भाव रखना, पुण्यकर्मियों को देखकर हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करना और पापियों के प्रति उदासीनता के भाव रखने से चित्त प्रसन्न और निर्मल रहता है।

तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्। दुःखितेषु करुणाम्। पुण्यात्मकेषु मुदिताम्। अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति। प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥33॥

जो सुख-साधन सम्पन्न हों, उन प्राणियों के प्रति मैत्री की भावना रखनी चाहिए। दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा, पुण्यात्माओं के प्रति प्रीति और पापियों के प्रति उपेक्षा की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार की भावना करने से सात्त्विक भावगत निर्मलता का संचार होता है और फिर चित्त में सहज प्रसन्नता उत्पन्न होती है। प्रसन्न चित्त एकाग्र होकर स्थिरता को प्राप्त करता है।

योगदीपिका

चित्त को प्रसन्न और निर्मल बनाने के बड़े ही कारगर सिद्धान्त इस सूत्र में बतलाये गये हैं। प्रायः देखा जाता है कि सुखी-सम्पन्नों से लोग ईर्ष्या-द्वेष रखते हैं। दुःखियों का उपहास और तिरस्कार करते हैं। पुण्यकर्मियों के कार्यों में छिद्रान्वेषण करते हैं तथा दुष्टों-पापियों से नाहक उलझ कर, विवाद खड़ा कर दुःखी होते हैं। इन कारणों से ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध, अमर्ष आदि नकारात्मक कलुषित विचारों से चित्त आच्छादित हो जाता है, जिससे ऊर्जा का अनावश्यक क्षरण होकर विक्षिप्त प्राणी रोग-शोक, आधि-व्याधि का शिकार हो जाता है। योगसाधना तो दूर, जीवन भी दुर्वह हो जाता है। इसलिए आवश्यक है कि सूत्र में कथित मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा

को व्यवहार में उतार कर सकारात्मक सात्त्विक विचारों के द्वारा अन्त:करण को निर्मल और प्रसन्न बनाया जाय तभी योग हेतु उपयुक्त भूमि तैयार हो पायेगी। प्रसन्न और निर्मल चित्त ही योग की उपयुक्त भूमि है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते' ॥ (गीता 2:65)

छन्दोबद्ध सार

क्रोध, राग-द्वेष, दम्भ, ईर्ष्या न सताये, अस्तु
शान्ति हेतु चार उपचार बतलाते हैं।
सुखियों से प्रीति मैत्री-भावना बनाये रहो,
दुखियों पै दया-भाव रखना सुझाते हैं।
उन्हें देखकर के प्रसन्न हो अतीव, जो कि
पुण्यव्रतधारी, सदाचारी गिने जाते हैं।
उनकी उपेक्षा करो, ग्लानि-भावना न भरो
जो हैं पापाचारी दुष्ट जीवन बिताते हैं।

⊛ चित्त की स्थिरता का उपाय - प्राणायाम ⊛

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥34॥

शब्दार्थ—वा = अथवा। प्राणस्य = प्राणवायु के। प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां = बारम्बार बाहर निकालने और रोकने के अभ्यास से भी (चित्त में स्थिरता और निर्मलता आती है)।

सूत्रार्थ—बारम्बार नासिका मार्ग से वायु को बाहर निकालने तथा यथाशक्ति बाहर रोके रखने के अभ्यास से भी चित्त शान्त और निर्मल होता है।

कोष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्। विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् ॥34॥

उदरस्थ वायु को नाक के नथुनों से विशिष्ट प्रयत्न के द्वारा निकालना और बाहर रोके रहना प्राणायाम है। इन दोनों क्रियाओं के द्वारा भी मन में स्थिरता लानी चाहिए।

योगदीपिका

योगशास्त्रोक्त उपाय से उदरस्थ वायु को बाहर निकालना 'प्रच्छर्दन' है और बाहर रोके रखना 'विधारण' है। शब्दावलियों से तो 'रेचन' और 'बाह्य कुम्भक' की ही प्रतीति होती है, किन्तु कुछ साधकों और विद्वानों के मतानुसार इसमें प्राणायाम

की तीनों क्रियाओं पूरक, रेचक और कुम्भक का समावेश है, क्योंकि बिना पूरक के रेचन कैसे होगा और भीतर धारण किये बिना प्राण वायु द्वारा कोशों, नसों-नाड़ियो का शोधन कैसे होगा ?

छन्दोबद्ध सार

मल तन-मन के हैं रोग-शोककारी, अस्तु
साधना में बड़े भारी विघ्न बने आते हैं।
इनको मिटाओ, चित्त स्थिर बनाओ, अस्तु
प्राणायाम के उपाय सुन्दर सुझाते हैं ।
प्राणवायु खींचो, रोको, बाहर निकालो, फिर
ऐसा करने से मल सारे जल जाते है ।
बढ़ती एकाग्रता, विमल तन-मन होते
प्राणायाम दृढ़ योग-भूमि को बनाते है ।

⊛ मन को स्थिर करने के अन्य साधन ⊛

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः
स्थितिनिबन्धिनी ॥35॥

शब्दार्थ—विषयवती (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) विषयों वाली । वा = अथवा । उत्पन्ना प्रवृत्तिः = उत्पन्न हुई प्रवृत्ति । मनसः = मन की । स्थितिनिबन्धिनी = स्थिरता को बाँधने वाली होती है ।

सूत्रार्थ—गन्ध, रस, रूप, शब्द, स्पर्श आदि विषयों का साक्षात्कार करने वाली वृत्तियाँ भी उत्पन्न होकर मन की स्थिरता का हेतु बनती हैं ।

नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित् सा गन्धप्रवृत्तिः । जिह्वाग्रे रससंवित् । तालुनि रूपसंवित् । जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित् । जिह्वामूले शब्दसंविदित्येताः वृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति, संशयं विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायां च द्वारीभवन्ति । एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या । यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति, एतेषां यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्, तथपि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिवापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति । तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्बलनार्थमेवावश्यं कश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः । तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सूक्ष्मविषयमप्यापवर्गाच्छ्रद्धीयते । एत-

दर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते। अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकार-सञ्ज्ञायामुपजातायां चित्तं समर्थं स्यात्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति। तथा च सति श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधयोऽस्याप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति ॥35॥

नासिकाग्र में चित्तवृत्ति के पूर्ण एकाग्र होने पर साधक को जो दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है, वह 'गन्धप्रवृत्ति' है। जिह्वाग्र में धारणा करने से जो दिव्य रस का साक्षात्कार होता है, वह 'रसप्रवृत्ति' है। तालु में धारणा करने से जो दिव्यरूप का साक्षात्कार होता है, वह 'रूपप्रवृत्ति' है। जिह्वा-मध्य में धारणा करने से जो दिव्यस्पर्श का साक्षात्कार होता है, 'स्पर्शप्रवृत्ति' है। जिह्वामूल में धारणा करने से जो दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है, वह 'शब्दप्रवृत्ति' है। ये इतनी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर करती हैं और समाधि प्रज्ञा में माध्यम बनती हैं। इससे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप और रश्मि आदि में उत्पन्न प्रवृत्ति को विषयवती ही जानना चाहिए। यद्यपि उन-उन शास्त्रों, अनुमान, प्रमाण तथा आचार्यों के उपदेश से ज्ञात बातें यथार्थ ही होती हैं, क्योंकि इनमें यथार्थ बतलाने की क्षमता होती है। फिर भी जब तक इनमें से कोई एक देश अपने उपकरणों मन-इन्द्रियों द्वारा नही जाना जाता, जब तक परोक्ष के समान रहने वाला अपवर्ग पर्यन्त सारा विषय सूक्ष्म तत्त्वों के प्रति दृढ़-विश्वास को उत्पन्न नहीं करता। इसलिए शास्त्र, अनुमान और आचार्यों के उपदेश की पुष्टि के लिए अवश्य ही किसी विशिष्ट अंश को प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए। उन उपदिष्ट सब विषयों में एक विषय का प्रत्यक्ष होने पर अपवर्ग पर्यन्त समस्त सूक्ष्म विषयों में श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसलिए इस चित्त के परिकर्म का निर्देश किया जाता है। अस्थिर गन्धादि वृत्तियों के विषय में 'वशीकार स्थिति' अर्थात् अपर वैराग्य के उत्पन्न होने पर चित्त ज्ञातव्य विषयों के प्रत्यक्ष करने में सक्षम हो जाता है और वैसा होने पर साधक की श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि अबाध रूप से सिद्ध हो जायेगी।

योगदीपिका

अभ्यास करते-करते साधक को रूप, रस, गन्ध, शब्दादि विषयक अलौकिक अनुभूतियों का साक्षात्कार होने लगता है। यही साक्षात्कार विषयवती प्रवृत्ति और संवित् है। धारणा, ध्यान, समाधि का मिलित रूप 'संयम' है। नासिकाग्र में संयम से दिव्य गन्ध; जिह्वाग्र में संयम से दिव्य रस, तालु में संयम से दिव्य रूप, जिह्वा के मध्य भाग में संयम से दिव्य स्पर्श, जिह्वा के मूल में संयम से दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह-नक्षत्र, मणि, प्रदीप, रत्न-प्रभादि में चित्त के संयम से हुए साक्षात्कार को भी विषयवती प्रवृत्ति ही जानना चाहिए। इन दिव्य अनुभूतियों के साक्षात्कार से साधक का उत्साहवर्धन होता है और योग-साधना में विश्वास सुदृढ़ हो जाता है। भाष्यकार के अनुसार उपर्युक्त दिव्य सूक्ष्म साक्षात्कार से

साधक को शास्त्र और आचार्योपदेश में श्रद्धा सुदृढ़ हो जाती है और योग की गहराई में उतरने हेतु सुदृढ़ सम्बल मिल जाता है । भाष्यकार ने इसीलिए किसी एक दिव्य अनुभूति का साक्षात्कार अवश्य करने की सम्मति दी है ।

प्रस्तुत सूत्र में कथित स्थिति ऐसी योगभूमि है, जहाँ चित्तवृत्ति की एकाग्रता से जाग्रत् आध्यात्मिक ऊर्जा अलौकिक अनुभूतियाँ जगाती हैं । साधक सिद्धि की रहस्यमयी दुनिया में प्रवेश करता है, उसे योगशक्तियों के दर्शन से उन पर दृढ़ विश्वास हो जाता है और वह आगे की योग-भूमियों की ओर सोत्साह प्रस्थान करता है । योग एक विज्ञान है । 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के अनुसार पिण्ड में ब्रह्माण्डीय शक्तियाँ सूक्ष्म रूप से समाहित है । मस्तिष्क की चुम्बकीय शक्ति का सशक्त जागरण अनन्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनन्त ऊर्जा क्षेत्रों से जुड़ कर अनन्त अज्ञात रहस्यों को उद्घटित करने में समर्थ है ।

छन्दोबद्ध सार

धीरे-धीरे साधना में होता है विकास जब
धारणा की सिद्धि दिव्य अनुभूति लाती है ।
'विषयवती प्रवृत्ति' कहता है शास्त्र इसे
जो कि सूक्ष्म विषयों के दर्शन कराती है ।
दिव्य, शब्द, रूप, रस, गन्ध जो अलौकिक हैं
अनुभूत साक्षात् होते, सिद्धि आती है ।
मिलता बढ़ावा इन सिद्धियों से साधक को
स्थिरता आती, गति और बढ़ जाती है ।

⊛ मन:स्थैर्य का अन्य उपाय - ज्योतिष्मती प्रवृत्ति ⊛

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥36॥

शब्दार्थ—वा = अथवा । विशोका = शोक-रहित । ज्योतिष्मती = ज्योतिष्मती प्रवृत्ति ।

सूत्रार्थ—अभ्यास करते-करते यदि साधक को शोक-रहित दिव्यज्योति स्वरूपा प्रवृत्ति का साक्षात्कार हो जाये, तो वह भी चित्त को स्थिर करने वाली होती है ।

प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्तते । हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्—बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं, तत्र स्थितिवै-

शारद्यात्प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते । तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति । यत्रेदमुक्तम् 'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते' इति । एषा द्वयी विशोका, विषयवती अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते, यया योगिनश्चितं स्थितिपदं लभत इति ॥36॥

यह प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन को स्थिर करने वाली होती हैं । 'प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी'—इतने अंश की अनुवृत्ति हैं अर्थात् इतना वाक्यशेष है, उसे सूत्र में जुड़ना चाहिए । हृदयकमल मे धारणा-ध्यान केन्द्रित करने पर जो बुद्धि का साक्षात्कार होता है, वह प्रकाशमय और आकाश के समान व्यापक है । उस निर्मल एकाग्र स्थिति में उत्पन्न उक्त प्रवृत्ति सूर्य, चन्द्र, ग्रह एवं मणि की कान्ति के रूप में प्रतीत होती है । वैसे ही अस्मिता में धारणापूर्वक स्थिर हुआ चित्त तरंगरहित समुद्र के सदृश शान्त, अनन्त, सत्त्व-प्रधान अहंकारस्वरूप हो जाता है । इस अहंकार विषयक साक्षात्कार रूप वृत्ति को 'अस्मिता मात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' कहते हैं, जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इस प्रवृत्ति को प्राप्त योगी 'मैं अणुमात्र आत्मा को जान गया हूँ और मैं अणुमात्र सूक्ष्म आत्मारूप हूँ'—इस प्रकार का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता है । इस प्रकार यह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति दो प्रकार की है—1. विशोका विषयवर्ती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति एवं 2. विशोका अस्मितामात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति । इनके साक्षात्कार द्वारा योगी का चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है ।

योगदीपिका

जिस प्रकार सूत्रक्रम 35 में वर्णित 'विषयवर्ती प्रवृत्ति' चित्त को स्थिर करती हैं, उसी प्रकार यह 'ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' भी उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर करती है । विषयवर्ती प्रवृत्ति नासिकाग्र एवं जिह्वा पर चित्त को एकाग्र करने पर उत्पन्न होती है और ज्योतिष्मती प्रवृत्ति हृदयकमल में चित्त को एकाग्र करने पर प्रकाशरूप में भासमान होती है । यह चित्त को स्थिरता प्रदान करती है । इस दुःखरहित सात्त्विक विषयवर्ती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति में प्रवृत्त चित्त कभी सूर्य, कभी चन्द्र, कभी नक्षत्र और कभी मणिप्रभातुल्य अलौकिक प्रभापुंज का हृदयचक्र में दर्शन करता है । सत्त्वगुण प्रधान होने के कारण और रजोगुण तथा तमोगुण से शून्य होने के कारण शोकरहित होने से यह 'विशोका' कहलाती है । इसी प्रकार दूसरी 'अस्मिता मात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' भी शोकरहित आनन्दरूपा होती है । पंचशिखाचार्य के अनुसार योगी इस प्रवृत्ति में स्वयं को अणुमात्र प्रकाशमान आत्मा के रूप में 'मैं हूँ' इस अस्मिता से युक्त अपने को जानता है । ये दोनों प्रवृत्तियाँ 'विशोका' विशेषण से युक्त शुद्ध आनन्दरूपा हैं ।

छन्दोबद्ध सार

हृदय-कमल मध्य चित्त जो एकाग्र हुआ
उर:मध्य दिव्य ज्योति की छटा सुहाती है ।
आत्मिक प्रकाश ज्योति-जाल छिटकाती यह
'ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' दिव्य कही जाती है ।
शुद्ध सात्त्विक विशोका आनन्दमयी प्रवृत्ति
स्थिरता अखण्ड चित्त में जगाती है ।
सात्त्विक प्रवृत्ति शुद्ध आनन्द अखण्ड लिए
योग-सिद्धि हेतु दिव्य भूमिका बनाती है ।

⊛ चित्त की स्थिरता का उपाय - विरक्त महापुरुषों का ध्यान ⊛

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥37॥

शब्दार्थ—वीतरागविषयम् = वीतराग महात्मा को ध्यान का विषय बनाने वाला । वा = अथवा । चित्तम् = स्थिर चित्त वाला होता है ।

सूत्रार्थ—अथवा वीतराग महापुरुष को ध्यान का विषय बनाने वाले साधक का चित्त भी स्थिर हो जाता है ।

वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चितं स्थितिपदं लभत इति ॥

विरक्त महात्माओं के चित्त को अर्थात् चरित्र को ध्यान का विषय बनाने वाले साधक का चित्त भी तदाकाराकारित होकर स्थिति पद को (स्थिरत्व को) प्राप्त करता है ।

योगदीपिका

जो परम विरक्त महापुरुष जनक, शुकदेव, स्वामी रामकृष्ण परमहंस जैसे वीतराग महात्मा हैं, उनको चित्त में धारण कर तदाकारिता की अनुभूति में निमग्न हो जाना भी चित्त को स्थिर बनाने में सहायक है ।

छन्दोबद्ध सार

वीतराग जो सिद्ध सन्त हैं विषय विकारविहीन ।
साधक-सिद्ध सुजान जो, जो हैं योग-प्रवीण ॥
गहन ध्यान उनका करे तदाकार हो जाये ।
उनकी कृपा-कटाक्ष से मन सुस्थिरता पाये ॥

⊛ मन की स्थिरता का उपाय ⊛

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ।।38।।

शब्दार्थ—वा = अथवा । स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम् = स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का अवलम्बन करना ।

सूत्रार्थ—अथवा स्वप्न और निद्रा के ज्ञान को अपनी साधना का आश्रय बनाने वाले साधक का चित्त भी स्थिर हो जाता है ।

स्वप्नज्ञानालम्बनं वा निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ।।38।।

स्वप्न के ज्ञान को धारण का विषय बनाने वाले अथवा सुषुप्तिगत एकाग्रता या वृत्ति-विहीनता को धारणा का आलम्बन बनाने वाले साधक का चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है ।

योगदीपिका

स्वप्न के ज्ञान को लोग गाँठ नहीं बाँधते । उसके दृश्यों को झूठा समझकर भुला देते हैं । इसी प्रकार साधक को चाहिए कि वह सांसारिक घटनाओं को महत्त्व न देकर दु:ख-दुर्भाग्य से विचलित न हो और सुख-सौभाग्य से असन्तुलित होकर अहंकार में प्रमत्तों जैसा व्यवहार न करे और साधना में संलग्न रहे अर्थात् सन्तुलित रहे ।

इसे गोस्वामी तुलसीदास ने इस प्रकार कहा है—

सपने होहिं भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ ।
जागे हानि न लाभ कछु, इमि प्रपंच जिय जोई ।। (मानस)

प्रगाढ़ निद्रा में पूर्ण वृत्ति-शून्यता रहती है । उसी वृत्ति-शून्यता को अपनी एकाग्रता में ढाले ।

छन्दोबद्ध सार

स्वप्न सदृश जग समझे, निज को कभी नहीं उलझाये ।
जीवन लम्बा सपना समझे, दु:ख-सुख में न भुलाये ।।
गहरी निद्रा-जैसी मन में वृत्ति-शून्यता लाये ।
इसी समझ से करे साधना, चित्त स्थिर हो जाये ।।

⊛ ध्यान द्वारा मन को स्थिर करने की सम्मति ⊛

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥39॥

शब्दार्थ—वा = अथवा । यथाभिमतध्यानात् = जैसा चाहे, रुचि के अनुकूल इष्ट का ध्यान करे ।

सूत्रार्थ—पूर्व कथित ध्यान-साधनों के अतिरिक्त भी मनपसन्द वस्तु को ध्यान का विषय बना कर चित्त को स्थिर किया जा सकता है ।

यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत् । तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ॥39॥

जो भी अभीष्ट हो, उसी का ध्यान करना चाहिए । उस अभीष्ट वस्तु में स्थिर हुआ चित्त अन्य विषयों में भी स्थिरता प्राप्त करता है ।

योगदीपिका

प्रधान उद्देश्य मन का स्थिर होना है । इस स्थिरता को लाने के लिये सूत्रकार द्वारा बताये गये ध्यान की विषय-वस्तुओं के अतिरिक्त यदि साधक के मनोनुकूल कोई अन्य पदार्थ, मूर्ति, या देवता या जो भी पदार्थ जान पड़ता हो, साकार-निराकार जहाँ भी श्रद्धाधिक्य हो, ध्यान का साधन बनाया जा सकता है, इसमें कोई बाध्यता नहीं है । सूत्रकार ने इस प्रकार योग-साधना का द्वार संसार के सभी धर्म-सम्प्रदायों के लिए खोल दिया है । यहाँ वैचारिक स्वातन्त्र्य का एक अच्छा उदाहरण देखा जा सकता है ।

छन्दोबद्ध सार

ध्यान-वस्तु जो भी अभीष्ट हो, जिसमें रुचि जग जाये ।
साधक मन-स्थैर्य हेतु, उस साधन को अपनाये ॥
स्थिरता-अभ्यास अगर परिपक्व पूर्णता पायेगा ।
मन का केन्द्रीकरण जहाँ भी चाहे, तब हो जायेगा ॥

⊛ मन की स्थिरता के पूर्ण परिपक्व हो जाने पर साधक की स्थिति ⊛

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥40॥

शब्दार्थ—अस्य = इसका । परमाणुपरममहत्त्वान्तः = परमाणु से लेकर परम महत् पर्यन्त । वशीकारः = 'वशीकार' हो जाता है ।

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त उपायों द्वारा पूर्ण स्थिरता को प्राप्त हुआ चित्त सूक्ष्मतम

पदार्थ अणु-परमाणु से लेकर परम महत् व्यापक आकाशपर्यन्त एकाग्र करने की 'वशीकार' नामक सामर्थ्य से परिपूर्ण हो जाता है ।

सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति । स्थूले निविशमानस्य परममहत्त्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य । एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतिघातः स परो वशीकारः । तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति ।।40।।

सूक्ष्म पदार्थ में प्रविष्ट करते हुए इस योगी का चित्त परमाणुपर्यन्त स्थिर हो जाता है । स्थूल में प्रवेश करते समय इस योगी का चित्त अनन्त आकाशपर्यन्त पदार्थों तक स्थिर हो सकने में सक्षम हो जाता है । इस प्रकार सूक्ष्मतम से स्थूलतम पदार्थ पर्यन्त स्थिर होने में अप्रतिहतगत हुए अर्थात् कहीं रुकावट का अनुभव न करने वाले चित्त की यह अवस्था 'परवशीकार' कही जाती है । इस 'वशीकार' को प्राप्त हुए साधक के चित्त को फिर अभ्याससाध्य एकाग्रता या परिष्कार हेतु 'परिकर्म' अर्थात् उपाय की आवश्यकता नहीं रह जाती है ।

योगदीपिका

एकाग्रता की पूर्वोक्त विधियों का निरन्तर निष्ठापूर्वक अभ्यास करते-करते साधक का चित्त 'परवशीकार'संज्ञक योगभूमि पर आरूढ़ हो जाता है । 'पर' पद का अर्थ उत्कृष्ट और 'वशीकार' का अर्थ वशित्व, नियन्त्रण, सामर्थ्य या क्षमता है । इस अवस्था को प्राप्त हुए साधक में मन को स्थिर करने की अर्पूव क्षमता का विकास हो जाता है । वह सूक्ष्मतम पदार्थ परमाणु और बृहत्तम पदार्थ आकाश पर्यन्त अपने चित्त को जहाँ चाहे एकाग्र कर उसका रहस्य समझ सकता है । इस 'परवशीकार' स्थिति के सिद्ध हो जाने पर साधक को चित्त को एकाग्र करने के उपायों का अलग से अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है, क्योंकि एकाग्रता प्राप्त चित्त की यह चरम स्थिति है । साधक जहाँ चाहे, सहजता से चित्त को एकाग्र कर सकता है ।

छन्दोबद्ध सार

एकाग्रता चित्त की करते-करते जब होता अभ्यास ।
हो जाती परिपूर्ण और हो जाता चरम विकास ।।
तब साधक का मन पर होता है पूरा अधिकार ।
'वशीकार' नामक चित्त स्थिति का होता विस्तार ।।
चाहे हो परमाणु सूक्ष्मतम या अनन्त आकाश ।
दोनों में मनः-स्थैर्य का होता पूर्ण विकास ।।

स्थिरता की चरमस्थिति यह वशीकार कहलाता ।
चित्त-स्थिरता हेतु यहीं अभ्यास पूर्ण हो जाता ।।

अथ लब्धस्थितिकस्य चेतसः किंस्वरूपा किंविषया वा समापत्तिरिति ? तदुच्यते—

तब स्थिरता को प्राप्त चित्त की समापत्ति किस स्वरूपवाली और किस विषयवाली होती है ? इसे आगे के सूत्र में बताया जाता है—

⊙ सम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप ⊙

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ।।41।।

शब्दार्थ—क्षीणवृत्ते: = जिसकी राजस एवं तामस वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं । अभिजातस्य मणे: इव = उत्तम जातीय स्फटिक मणि के समान । ग्रहीतृ = अहंकार उपाधिक पुरुष । ग्रहण = इन्द्रियाँ । ग्राह्येषु = पाञ्चभौतिक स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों में । तत् स्थ = उनमें स्थित होकर । तदञ्जनता = उन्हीं के स्वरूप को प्राप्त हो जाना, तदाकारिता । समापत्ति: = सम्प्रज्ञात समाधि है ।

सूत्रार्थ—राजस एवं तामस वृत्तियों के शान्त हो जाने पर मात्र सात्त्विक वृत्ति अवशिष्ट साधक का चित्त स्फटिक मणि के समान निर्मल हो जाता है । उस समय साधक इन्द्रियों के स्थूल या सूक्ष्म विषयों को अथवा अन्त:करण और इन्द्रियों को अथवा बुद्धिस्थ पुरुष को अथवा जिस किसी भी वस्तु को ध्यान का विषय बनाकर उसमें अपना चित्त केन्द्रित करता है, उसका चित्त उस ध्येय वस्तु में स्थित होकर तदाकार हो जाता है । इसी को सम्प्रज्ञात समाधि कहते है; क्योंकि इस समाधि में साधक को ध्येय वस्तु के स्वरूप का संशय रहित सम्यक् ज्ञान हो जाता है ।

क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः । अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टान्तोपादानम् । यथा स्फटिक उपाश्रयभेदात् तत्तद्रूपोपरक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते तथा ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासं भवति । तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं स्थूलरूपाभासं भवति । तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति । तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेष्वपि द्रष्टव्यम् । ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासत इति । तदेवमभिजातमणि-

कल्पस्य चेतसो ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते ॥41॥

अभ्यास-वैराग्य के द्वारा राजस-तामस वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर उस साधक का चित्त स्फटिक मणि के समान अतिनिर्मल हो जाता है। इस दृष्टान्त के अनुसार जैसे स्फटिक मणि अपने निकटस्थ पदार्थों के रूप-रंग में ढल कर उन्हीं के आकार की प्रतीत होती है, वैसे ही ग्राह्य आलम्बन से अनुरंजित चित्त ग्राह्याकार होकर तदनुरूप प्रतीत होता है। सूक्ष्म भूतों, तन्मात्राओं में उपरक्त चित्त भूत सूक्ष्माकार होकर भूत सूक्ष्मरूप जैसा प्रतीत होता है। उसी प्रकार स्थूल आलम्बन से उपरक्त चित्त स्थूलालम्बनाकार होकर उसी स्थूल जैसा आभासित होता है। वैसे ही सभी चेतनाचेतन ग्राह्य पदार्थों से उपरक्त हुआ चित्त उन भिन्न-भिन्न ग्राह्य पदार्थों के रूप में उद्भासित होता है। उसी प्रकार ग्रहणों अर्थात् इन्द्रियों में भी देखना चाहिए। इन्द्रियरूपी आलम्बन से उपरक्त चित्त इन्द्रियाकार होकर इन्द्रिय के रूप का भासित होता है। उसी प्रकार 'ग्रहीता' पुरुष अर्थात् अस्मिता रूपी आलम्बन से उपरक्त चित्त ग्रहीतृपुरुषाकार होकर ग्रहीतापुरुष के स्वरूप के आकार का भासित होता है। वैसे ही मुक्त पुरुष रूपी आलम्बन से उपरक्त हुआ चित्त मुक्त पुरुषकार होकर मुक्त पुरुष के स्वरूप के आकार का भासित होता है। इस प्रकार निर्मल स्फटिक मणि के समान विमल चित्त की ग्राह्य (भूतो) में, ग्रहण (इन्द्रियों) में और 'ग्रहीता' (पुरुष) में जो तदाकारिता है, वहीं 'समापत्ति' अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है।

योगदीपिका

पूर्वोक्त साधना के उपायों के अभ्यास को आस्थापूर्वक करते-करते साधक का चित्त पूर्ण निर्मल-निर्विकार होकर सात्त्विकता से भर जाता है। उस समय रजोगुण अथवा तमोगुण का लेशमात्र भी शेष नहीं रह जाता। चित्त एकाग्रता के चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर स्फटिकमणि के समान निर्मल और बिम्बग्राही हो जाता है। जैसे बिल्लौर या स्फटिकमणि समीपस्थ पदार्थ के रंग में ढल जाती है, वैसे चित्त भी तदाकारित हो जाता है। उसमें स्थूल, सूक्ष्म, अस्मिता सभी में एकाग्र होकर ध्यान द्वारा तदाकारित हो जाने की पूर्ण क्षमता आ जाती है। जीवन्मुक्त शुक, सनकादि पर साधक जब अपना ध्यान केन्द्रित करेगा, तब उसका चित्त जीवन्मुक्त पुरुषाकार होकर उद्भासित होगा। तदाकारिता का उदाहरण स्वामी रामकृष्ण परमहंस की साधना में देख गया है। उन्होंने विभिन्न भावों की साधनाओं में अपने ध्यान को केन्द्रित किया। उस केन्द्रीकरण में वैसा ही भाव-उभार परिलक्षित हुआ। जब 'कान्ता भाव' की उपासना में उन्होंने अपना चित्त केन्द्रित किया, उनके मुखमण्डल पर स्त्रीत्व का स्पष्ट उभार लोगों ने देखा। तदाकारिता के सुन्दर उदाहरण में मैथिलकोकिल विद्यापति ने अपनी पदावली में अंकित किया है—**'अनुखन माधव-माधव रटियत**

राधा भेल मधाई' । प्रतिक्षण निरन्तर 'माधव' का ध्यान करते और 'माधव' का नाम जपते-जपते राधा स्वयं कृष्ण बनकर कृष्ण-जैसा आचरण करने लगती हैं । इस 'तदाकारिता' को सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है, जहाँ परम निर्मल चित्त में एकाग्रता अपने चरम पर होती है । इससे मिलने वाली अलौकिक सिद्धियों का वर्णन इस ग्रन्थ के 'विभूतिपाद' में किया जायेगा ।

छन्दोबद्ध सार

अभ्यास वैराग्य से विमल चित्त साधक का
रज, तम का विकार सारा जल जाता है ।
स्फटिक मणि ज्यों विमल चित्त साधक में
बिम्बग्राही गूढ़ ज्ञान स्वछटा दिखाता है ।
तदाकारिता की शक्ति का विकास होता पूर्ण
ध्याता-ध्येय में विभेद दृष्टि नहीं आता है ।
वही बन जाता ध्यान जिसमें लगाता, यही
सम्प्रज्ञात है समाधि जिसे योगी पाता है ।

❁ सम्प्रज्ञात समाधि अथवा समापत्ति के भेद - सवितर्क समाधि ❁

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥42॥

शब्दार्थ—तत्र = वहाँ, उन समापत्तियों में से । शब्द-अर्थ-ज्ञानविकल्पैः = शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों (भेदों) से । संकीर्णा = मिली हुई । सवितर्का समापत्तिः = सवितर्क समापत्ति होती है ।

सूत्रार्थ—जिस सम्प्रज्ञात समाधि में 'शब्द', 'अर्थ', 'ज्ञान' इन तीनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व बना रहता है, वह 'सवितर्क समापत्ति' कही जाती है ।

तद्यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम् । विभज्यमानाश्चान्ये शब्दधर्मा अन्येऽर्थधर्मा अन्ये ज्ञानधर्मा इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः । तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा सङ्कीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते ॥42॥

वह इस प्रकार से कि 'गौः' यह पद 'शब्द' है, 'गाय' नामक एक विशेष आकार-प्रकार का जीव उसका 'अर्थ' है और गोपदार्थाकार बुद्धि-वृत्ति उसका 'ज्ञान'

है । इन परस्पर भिन्न शब्द, अर्थ और ज्ञान का अभिन्न रूप से ही ग्रहण हुआ करता है, ऐसा देखा जाता है । विवेचना करने पर 'शब्द', 'अर्थ' और 'ज्ञान' नामक पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं । इस प्रकार इनका अस्तित्व अलग-अलग है । इस सवितर्क समापत्ति में इन शब्द, अर्थ और ज्ञान का ध्यान-स्थिति में मिला-जुला स्वरूप बना रहता है, इसलिए यह 'सवितर्का' या सविकल्पा समाधि कहलाती है ।

योगदीपिका

किसी वस्तु का कोई नाम होता है, उसका कुछ अर्थ होता है और उसी आधार पर उसका स्वरूपबोध होता है । भाष्यकार ने यहाँ गाय का उदाहरण दिया और स्पष्ट किया कि गाय नाम का एक प्राणी है, जो सींग-पुच्छ आदि से युक्त अर्थ रूप में एक पशुविशेष है और फिर उसके गुणस्वरूप आदि तीनों से युक्त ज्ञान या बोध पर चित्तवृत्ति दौड़ने लगी । यहाँ चित्त में नाम, रूप और गुण या स्वरूप की मिली-जुली प्रतीति सक्रिय रहती है, यही सवितर्क अथवा सविकल्प समाधि है । इसमें वस्तुविशेष में मन तदाकार तो हो जाता है, किन्तु शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प से दूर होकर किसी एक पर पूर्ण एकाग्र नहीं हो पाता । कुछ-कुछ विकल्पजन्य चांचल्य बना ही रहता है, अस्तु यह अन्य की अपेक्षा कुछ अवर या निम्नस्तरीय समाधि है ।

छन्दोबद्ध सार

नाम, रूप, अर्थ का विकल्प है रहता बना
तीनों ध्यान-भूमि पर साथ-साथ आते हैं ।
तीनों बिन्दुओं पै चित्तवृत्ति दौड़ती, भले ही
तदाकारिता, पै तीनों अस्तित्व जताते हैं ।
इन्हीं तीनों पर वही चित्तवृत्ति दीखती है ।
थोड़ी-सी चपलता का रूप रंच पाते हैं ।
अस्तु, आगे की समाधियों से कुछ भिन्न यह,
योगीजन, इसे कुछ अवर बताते हैं ।

यदा पुनः शब्दसङ्केतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमानज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैवावच्छिद्यते सा च निर्वितर्का समापत्तिः । तत्परं प्रत्यक्षम् । तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजम् । ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः । न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम् । तस्माद-

सङ्कीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजं दर्शनमिति । निर्वितर्काया: समापत्तेरस्याः सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते—

पुन: जब शब्द-संकेत की स्मृति के निवृत्त हो जाने पर श्रुतानुमान-ज्ञानकालीन विकल्प से शून्य जो समाधि प्रज्ञा होती है, उसमें स्वरूपमात्र से अवस्थित विषय जब स्वरूपाकार मात्र से ही परिच्छिन्न होकर भासित होता है, तब 'निर्वितर्का समापत्ति' कही जाती है । वह परम प्रत्यक्ष प्रमाण है और श्रुतानुमान प्रमाण का बीजरूप हैं, उसका मूल कारण है । उससे ही 'आगम' और 'अनुमान' प्रमाण का उद्भव होता है । वह ज्ञान 'आगम' और 'अनुमान' के साथ उद्भूत होने वाला नही है । इसलिए 'निर्वितर्का समाधि' से उत्पन्न योगी का ज्ञान अन्य किसी भी ज्ञान से अमिश्रित (असंकीर्ण) है । इस 'निर्वितर्का समापत्ति' का लक्षण अगले सूत्र के द्वारा अभिव्यक्त किया जा रहा है—

⊛ सम्प्रज्ञात समाधि का अन्य रूप - निर्वितर्क समाधि ⊛

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥43॥

शब्दार्थ—स्मृतिपरिशुद्धौ = (शब्द और प्रतीति की) स्मृति के भलीभाँति लुप्त हो जाने पर । स्वरूपशून्या = स्वरूप से शून्य हुई । इव = सदृश । अर्थमात्र-निर्भासा = अर्थमात्र-सी प्रतीत होने वाली । निर्वितर्का = निर्वितर्क समाधि है ।

सूत्रार्थ—सवितर्क या सविकल्प समाधि में ध्यान की जाने वाली वस्तु अर्थात् ध्येय के नाम, रूप एवं अर्थ तीनों की स्मृति बनी रहती है, किन्तु निर्वितर्क या निर्विकल्प समाधि में ध्येय वस्तु के नाम की स्मृति लुप्त हो जाती है । केवल ध्येय का स्वरूप ही शेष रह जाता है, शब्द और नाम विषयक स्मृति का अस्तित्व नही रह जाता है । केवल एक पर टिके रहने और अन्य के वितर्क या विकल्प के न रहने के कारण समाधि की यह भूमि निर्वितर्क या निर्विकल्प समापत्ति के नाम से जानी जाती है ।

या शब्दसङ्केतश्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञास्वरूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थमात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा तदा निर्वितर्का समापत्तिः । तथा च व्याख्यातम् । तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्माऽणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः । स च संस्थानविशेषो, भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्मः, आत्मभूतः फलेन व्यक्तेनानुमितः स्वव्यञ्जकाञ्जनः प्रादुर्भवति । धर्मान्तरोदये च तिरोभवति । स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते । योऽसावेकश्च महांश्चाणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च तेनावयविना व्यवहाराः क्रियन्ते । यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यं तस्यावयव्यभावा-

दतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानमिति । तदा च सम्यग्ज्ञानमपि किं स्याद्विषयाभावात् ? यद्यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेना-घ्रातम् । तस्मादस्त्यवयवी यो महत्त्वादिव्यवहारापन्नः समापत्तेर्निर्वितर्का विषयो भवति ॥43॥

जब शब्दसंकेत, आगम और अनुमान ज्ञानों के विकल्प की स्मृति की निवृत्ति हो जाती है और ग्राह्य आलम्बन के स्वरूप से उपरक्त प्रज्ञा अपने ज्ञानात्मक प्रज्ञारूप को मानो छोड़कर अर्थ के स्वरूप में तदाकार हो जाती है, तो वह निर्वितर्का समापत्ति होती है । इसी प्रकार पूर्वाचार्यों ने भी व्याख्यायित किया है । इस निर्वितर्का समापत्ति का आलम्बन एक गौरूपाकार बुद्धि को उत्पन्न करने वाला, अर्थ रूप में सूक्ष्म अणुओं के पुंजीभूत संघातरूप गाय या घट इत्यादि रूप में जाना जाता है । वह अवयव-सन्निवेश रूप विशेष आलम्बन पञ्चभूतों के सूक्ष्म रूप का स्थूल रूप उनका साधारण धर्म है; द्रव्यात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से सूक्ष्म की स्थूल अभिव्यक्ति है । यह अणुओं-परमाणुओं का अवयवी धर्म है, जो एक है, बड़ा है, छोटा है, स्पर्श होने योग्य है । यह रूप की दृष्टि से अनित्य है, किन्तु अवयवी अर्थात् वस्तुरूप को लक्ष्य कर सभी लौकिक व्यवहार किये जाते हैं । फिर जिन दार्शनिक मतों के अनुसार अवयव-सन्निवेश रूप अवयवी अवास्तविक माना जाता है और उनके सूक्ष्म कारण परमाणु अदृश्य होते हैं, उनके मत में, यद्यपि अवस्तुनिष्ठ ज्ञान मिथ्या ज्ञान ही होता है, इसलिए प्रायः सभी ज्ञान अवयवी के अभाव के कारण अतद्रूप प्रतिष्ठ मिथ्या ज्ञान ही हुए तब फिर ज्ञान के अभाव में सम्यक् ज्ञान कौन-सा होगा । जो-जो पदार्थ दिखाई देते हैं, वे अवयव युक्त होते हैं । अतः अवयवी अवश्य होता है, जो कि बड़े रूप या छोटे रूप में दृष्टिगत होकर व्यवहार में आता है और वही स्थूल रूप में दृष्टिगोचर होने वाला पदार्थ निर्वितर्का समापत्ति का विषय बन जाता है ।

योगदीपिका

सवितर्क समापत्ति या समाधि में साधक के चित्त में ध्येय वस्तुविशेष के शब्द, अर्थ और उससे उत्पन्न ज्ञान तीनों का आभास रहता है और चित्त इन तीनों में विभक्त हुआ तदाकार रहता है, किन्तु ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ती जाती है और साधना में निखार आता जाता है, त्यो-त्यों बाह्य वृत्ति अन्तर्मुखी होती जाती है । जब एकाग्रता इस सीमा तक बढ़ जाती है, जिसमें कि ध्येय के कल्पित नाम गो, घट आदि की स्मृति लुप्त हो जाय । उसके शब्द और उस शब्दसंकेत से निकले ध्येय वस्तुविषयक ज्ञान शृंखला का अस्तित्व चित्त में न रह जाय, केवल ध्येय वस्तु में तदाकार अचल वृत्ति शेष रह जाय, तब उस स्थिति को 'निर्वितर्क समापत्ति' या समाधि कहते हैं । इसी को 'निर्विकल्प समापत्ति' भी कहते हैं, क्योंकि इसमें शब्द और ज्ञान का विकल्प नहीं रह जाता है । 'समापत्ति' और 'समाधि' शब्द समानार्थी माने जा सकते हैं ।

प्रस्तुत सूत्र के भाष्य के उत्तरार्द्ध में भाष्यकार ने बौद्धों के इस सिद्धान्त—'अवयवों से भिन्न अवयवी नाम का कोई पदार्थ नहीं होता है' का खण्डन किया है। 'पदार्थ था, है, और रहेगा'—सांख्यदर्शन प्रतिपादित इस 'सत्कार्यवाद' सिद्धान्त का मण्डन किया। वस्तु का सर्वथा विनाश नहीं होता है। जिसे लोग विनाश कहते हैं, वह और कुछ नहीं, स्थूल का सूक्ष्म में विलीन हो जाना है। वस्तु 'सत्' है, तभी साधक उसे ध्येय वस्तु बनाकर समाधिमग्न होते हैं।

छन्दोबद्ध सार

ध्यान में जो ध्येय के विकल्प शब्द अर्थ आदि
रहें तो समाधि सविकल्पक कहाती है।
किन्तु, साधना में आगे आता है निखार ज्यों-ज्यों
एकाग्रता प्रसार त्यों-त्यों पाती जाती है।
होता परिणाम, ध्येय मात्र रह जाता शेष
शब्द नाम की प्रतीति लुप्त दिखलाती है।
दूर होती सारी हैं प्रतीतियाँ विकल्प रूप
यही निर्विकल्पक समाधि कहलाती है।

❁ सविचार समाधि ❁

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥44॥

शब्दार्थ—एतया एव = इसी से। सूक्ष्मविषया = सूक्ष्म पदार्थों में की ज़ाने वाली। सविचारा = सविचार। निर्विचारा = निर्विचार समापत्ति भी। व्याख्याता = व्याख्यायित की हुई समझनी चाहिए।

सूत्रार्थ—जिस प्रकार स्थूल विषयों को ध्येन बनाकर सविकल्प और निर्विकल्प समाधि सिद्ध की जाती है, उसी प्रकार अणु आदि सूक्ष्म विषयों को ध्येय बनाकर की जाने वाली समाधियाँ 'सविचार' और 'निर्विचार' समापत्ति कही जाती हैं।

तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते। तत्राप्येकबुद्धिनिर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालम्बनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते। या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः सा निर्विचारेत्युच्यते। एवंस्वरूपं हि तद्भूतसूक्ष्ममेतेनैव स्वरूपेणालम्बनीभूतमेव समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति। प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थ-

मात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते । तत्र महद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च सूक्ष्मवस्तुविषया सविचारा निर्विचारा च । एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्यातेति ॥44॥

उनमें अभिव्यक्त धर्म वाले सूक्ष्मभूत में देश, काल तथा निमित्त के अनुभव द्वारा अवच्छिन्न जो समापत्ति होती है, वह 'सविचारा' है; ऐसा कहा जाता है । इसमें भी एकबुद्धि रूप से ग्रहणीय, उदित धर्म विशिष्ट सूक्ष्मभूत आलम्बनस्वरूप होकर समाधि प्रज्ञा में स्थित रहता है ।

जो समापत्ति सब प्रकार से सब ओर से शान्त (भूतकालिक) उदित (वर्तमान कालिक), अव्यपदेश्य (भविष्यत्कालिक) धर्मों से असम्बद्ध सब धर्मों का आश्रय बनने वाले, सब धर्मों के आधारभूत भूतसूक्ष्मों में जो समापत्ति होती है, वह 'निर्विचारा' कही जाती है । इस प्रकार का ही वह भूतसूक्ष्म इसी स्वरूप से समाधि का आलम्बन बनकर ही समाधि प्रज्ञा के स्वरूप को उजागर करता है । प्रज्ञा जब स्वरूप रहित-सी होकर मात्र आलम्बन विषयाकार होती है, तब 'निर्विचारा' कही जाती है । उनमें से स्थूल वस्तुविषयक (समापत्तियाँ) 'सवितर्का' तथा निर्वितर्का' एवं सूक्ष्मवस्तुविषयक (समापत्तियाँ) 'सविचारा' और 'निर्विचारा' हैं । इस प्रकार इन दोनों (निर्वितर्का तथा निर्विचारा) में इस निर्वितर्का के द्वारा विकल्पशून्यता का प्रतिपादन किया गया है ।

योगदीपिका

जब ध्येय अणु-परमाणु सदृश कोई सूक्ष्म विषय हो और चित्त उसके देश-काल और निमित्त के विचार से मिला हुआ तद्रूप होकर उसका साक्षात्कार कराये, तब वह 'सविचार समापत्ति' या समाधि कहलाती है और चित्त जब एकाग्रता के बढ़ने पर देश, काल और निमित्त आदि की स्मृति से विमुक्त विशुद्ध बन कर उस सूक्ष्म विषय से तदाकार होकर प्रकाशित करे, तब वह 'निर्विचार समापत्ति' कहलाती है । जब किसी सूक्ष्म ध्येय पदार्थ के स्वरूप के यथार्थ का बोध करने के लिए उसमें चित्त को स्थिर कर एकाग्र किया जाता है, तब जबतक उसके नाम, रूप और ज्ञान के विकल्पों से मिला हुआ अनुभव होता है तो वह स्थिति 'सविचार' समाधि की है, किन्तु जब उसके नाम का विस्मरण होकर केवल ध्येय के स्वरूप का अनुभव हो, तो वह स्थिति 'निर्विचार' समाधि की है ।

भाव यह है कि तन्मात्राएँ पञ्चभूतों की सूक्ष्म रूप हैं । पृथ्वी का सूक्ष्मरूप 'गन्ध', जल का 'रस', अग्नि का 'रूप', वायु का 'स्पर्श' और आकाश का सूक्ष्म रूप 'शब्द' तन्मात्रा है । सविचार समाधि में कार्य-कारण भाव विद्यमान रहता है, निर्विचार समाधि में केवल सूक्ष्मभूत तन्मात्राओं का या अन्य सूक्ष्म परमाणु का ही

रूप उद्भासित होता है, तद्विषयक अन्य विशेषणों या कार्य-कारण विषयक इतर अनुभूतियों का अभाव रहता है।

इस प्रकार स्थूल पदार्थ विषयक 'सवितर्क' और 'निर्वितर्क' तथा सूक्ष्म पदार्थ विषयक 'सविचार' और 'निर्विचार' भेद से असम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद हुए। सवितर्क और सविचार में सम्मिश्रण रहता है, किन्तु निर्वितर्क और निर्विचार में मात्र 'ध्येय' का ही शुद्ध स्वरूप उद्भासित होता है।

छन्दोबद्ध सार

सूक्ष्म ध्येय पर चित्त को टिकाता योगी, तब
नामरूप का मिला-जुला स्वरूप आता है।
यही सविचार समापत्ति का स्वरूप जिसे
सविचार समाधि में योगी देख पाता है।
आगे साधना में जब आता है निखार और
नामरूपजन्य भेदभाव भूल जाता है।
भूला चित्त निज का स्वरूपमात्र ध्येय शेष
निर्विचार समाधि का रूप बतलाता है।

⊛ सूक्ष्म पदार्थों का सीमांकन ⊛

सूक्ष्मविषयत्वं चाऽलिङ्गपर्यवसानम् ॥45॥

शब्दार्थ—सूक्ष्मविषयत्वं च = और सूक्ष्मविषयत्व। अलिङ्गपर्यवसानम् = प्रकृति पर्यन्त होता है।

सूत्रार्थ—सूक्ष्म विषयत्व, जिसका कथन सविचार और निर्विचार समाधि के सन्दर्भ में किया गया है, उसकी व्याप्ति प्रकृतिपर्यन्त है।

पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः। आप्यस्य रसतन्मात्रम्। तैजसस्य रूपतन्मात्रम्। वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्। आकाशस्य शब्द-तन्मात्रमिति। तेषामहङ्कारः। अस्यापि लिङ्गमात्रं सूक्ष्मो विषयः। लिङ्गमात्र-स्याप्यलिङ्गं सूक्ष्मो विषयः। न चालिङ्गात्परं सूक्ष्ममस्ति। नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति? सत्यम्। यथा लिङ्गात्परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य। किन्तु लिङ्गस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति हेतुस्तु भवतीति। अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् ॥45॥

पार्थिव अणु का सूक्ष्म विषय गन्धतन्मात्रा है। जलीय अणु का सूक्ष्म विषय रसतन्मात्रा है। तैजस अणु का सूक्ष्म विषय रूपतन्मात्रा है। वायवीय अणु का सूक्ष्म

विषय स्पर्शतन्मात्रा है । आकाशीय अणु का सूक्ष्म विषय शब्दतन्मात्रा है । उन (तन्मात्राओं) का सूक्ष्म विषय 'अहंकार' है । इस (अहंकार) का भी सूक्ष्म विषय लिंगमात्र (महत्तत्त्व) है । लिंगमात्र का भी सूक्ष्म विषय अलिंग (मूल प्रकृति) है । इस अलिंग से परे सूक्ष्म विषय नहीं है । इस पर शंका होती है कि पुरुष तत्त्व तो इस अलिंग अर्थात् मूल प्रकृति से परे सूक्ष्म है ? यह सत्य है । जैसी लिंग से परे अलिंग की सूक्ष्मता है, वैसी पुरुष की सूक्ष्मता नहीं है । पुरुष लिंग का उपादान कारण नही है, किन्तु निमित्त कारण है । इसलिए मूलप्रकृति में सूक्ष्मता की पराकाष्ठा प्रतिपादित की गयी है ।

योगदीपिका

प्रस्तुत सूत्र में सूक्ष्मता का सीमांकन किया गया है । सम्पूर्ण स्थूल सूक्ष्म की अभिव्यक्ति है । जो भी व्यक्त है, वह अव्यक्त की देन है । प्रकृति जो हम ग्रह-नक्षत्र, सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी, आकाश, अग्नि, जल, वायु के रूप में देखते हैं अथवा वृक्ष-वनस्पति या जीव-जन्तुओं के रूप में जो दिखाई देते हैं, वे स्वयं में प्रकृति नहीं, वरन् सूक्ष्म प्रकृति के स्थूल उत्पाद्य हैं । सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति होती है । जब हम स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा करते है, तब पञ्चभूतों—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश से सूक्ष्म उनकी तन्मात्राएँ क्रमशः गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, और शब्द मिलते हैं । पञ्चतन्मात्राएँ सम्बन्धित पञ्चभूत के परमाणुगत भेद हैं । आगे बढ़ने पर तन्मात्राओं का सूक्ष्म रूप अहंकार, अहंकार का महत्तत्त्व और महत्तत्त्व का भी सूक्ष्म रूप 'अव्यक्त' प्रकृति पाया जाता है । 'अव्यक्त' प्रकृति सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है । वैसे पुरुष तत्त्व तो अव्यक्त प्रकृति से भी सूक्ष्म है, किन्तु वह प्रकृति का सजातीय नहीं, बल्कि उससे परे प्रकृति का निमित्त कारण है, अस्तु 'अव्यक्त प्रकृति' ही सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है ।

छन्दोबद्ध सार

सूक्ष्मता का अन्त परमाणु को ही मानो नहीं,
उसके भी आगे सूक्ष्मता प्रसार पाती है ।
पंचतन्मात्र-परमाणु से भी आगे खड़ी
अहंकार की है सूक्ष्मता बड़ी दिखाती है ।
अहंकार से भी सूक्ष्म महत्तत्त्व माना जाता
अव्यक्त प्रकृति और आगे बढ़ी जाती है ।
अव्यक्त प्रकृति पराकाष्ठा सूक्ष्मता की जानो
कथित समाधि इन्हें विषय बनाती है ।

⊙ सबीज समाधि ⊙

ता एव सबीजः समाधिः ॥46॥

शब्दार्थ—ता एव = वे सब-की-सब । सबीजः समाधिः = सबीज समाधि हैं ।

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त चारों समाधियाँ—1. सवितर्क समाधि, 2. निर्वितर्क समाधि, 3. सविचार समाधि, 4. निर्विचार समाधि; ये सब-की-सब सबीज समाधि हैं, क्योंकि इनसे कैवल्यप्राप्ति नहीं हो सकती है और पुनर्जन्म का चक्र रुक नहीं सकता है ।

ताश्चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः । तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः, सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति स चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति ॥46॥

ये चारों समापत्तियाँ बाह्य वस्तुओं का आलम्बन करने वाली होती हैं । इसलिए ये बाह्य वस्तु आलम्बित समाधियाँ सबीज समाधि हैं । आलम्बन के 'स्थूल' रहने पर वितर्क सहित और वितर्क रहित तथा 'सूक्ष्म' आलम्बन में विचारसहित और विचार-रहित—इन चार भेदों में सम्प्रज्ञात समाधि की गणना निर्धारित हुई है ।

योगदीपिका

पूर्वोक्त चारों समाधियों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के विकास से उत्कृष्टता आती बतलायी गयी है । 'निर्वितर्क' और 'निर्विचार' समाधियाँ निर्विकल्प होने पर भी निर्बीज नहीं हैं । ये सब-की-सब सबीज समाधियाँ हैं और 'सम्प्रज्ञात' समाधि के भेद हैं । इनमें बीज रूप से किसी-न-किसी ध्येय पदार्थ को विषय बनाने वाली चित्तवृत्ति का अस्तित्व पूर्णरूप में समाप्त नहीं हो पाता है । अतः सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध न होने के कारण पुरुष को 'कैवल्य' लाभ नहीं मिल पाता है । ये समाधियाँ राजस और तामस वृत्तियों के पूर्ण प्रशमन के फल हैं, जो उन चित्तवृत्तियों के नियमनजन्य पूर्ण एकाग्रता से अपूर्व आनन्द, सुख-शान्ति, स्वास्थ्य और सिद्धियाँ तो देती हैं, किन्तु मुक्ति-लाभ नहीं दे पाती हैं ।

छन्दोबद्ध सार

चारों जो समाधियाँ बतायी गयीं अब तक
सम्प्रज्ञात समाधि के भेद कही जातीं हैं ।
रज, तम शान्ति के मधुर फल जानो इन्हें
सत्त्व-वृत्ति सिद्धि, सुख-शान्ति बरसाती हैं ।

किन्तु बाह्य ध्येय का सहारा लेना पड़ता है,
पारतन्त्र्य आलम्ब को नहीं मिटा पाती हैं ।
हैं सबीज सभी ये समाधियाँ बतायी गयीं
कैवल्य का मुक्ति-लाभ-फल न दिलाती हैं ।

⊙ निर्विचार समाधि की उत्कृष्टता का परिणाम ⊙

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥47॥

शब्दार्थ—निर्विचारः = निर्विचार नामक समाधि के । वैशारद्ये = प्रवीणता, नैर्मल्य से । अध्यात्मप्रसादः = अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है ।

सूत्रार्थ—निर्विचार समाधि के निरन्तर अभ्यास से चित्त में आगे की योगभूमि पर आरूढ़ होने की प्रवीणता और सत्त्वगुणाधिक्य के कारण अखण्ड आत्म-प्रसाद प्राप्त होता है ।

अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम् । यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधीः स्फुटः प्रज्ञालोकः । तथा चोक्तम्—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥47॥

रजोगुण और तमोगुण जन्य अशुद्धि ही आवरणकारक मल है । उससे रहित, प्रकाशक बुद्धि सत्त्व की रजस्तमस् सम्पर्क रहित निर्मल यथार्थ प्रतिबिम्बग्राहिणी एकाग्रता धारा ही 'वैशारद्य' है । जब निर्विचारा समाधि से यह वैशारद्य उत्पन्न होता है, तब साधक को अद्भुत बौद्धिक उत्कर्ष अर्थात् यथार्थविषयक युगपत्सर्वार्थग्राही स्पष्ट प्रज्ञा-प्रकाश प्राप्त होता है । प्रज्ञा-प्रकाश-प्राप्त साधक की मनःस्थिति का प्रकाशन एक श्लोक के माध्यम से भाष्यकार ने इस प्रकार किया है—

प्रज्ञा-प्रकाश के शिखर पर आरूढ़ शोकमुक्त साधक शोकयुक्त प्राणियों को उसी प्रकार देखता है, जैसे ऊँचे शिखर पर चढ़ा हुआ व्यक्ति भूमि पर पड़े प्राणियों को देखता है ।

योगदीपिका

'निर्विचार' समाधि के सतत अभ्यास से सत्त्वगुणाधिक्य के प्रबल प्रवाह से रजोगुण और तमोगुण का आवरणकारक सकल मल धुल जाता है । इस स्थिति में

साधक को अखण्ड प्रज्ञा-प्रकाश मिलता है, जिसके बल से साधक में पाञ्चभौतिक सूक्ष्म परमाणु से लेकर अव्यक्तप्रकृति पर्यन्त सूक्ष्म रहस्यों को एक साथ जान सकने की अपूर्व क्षमता का विकास हो जाता है । सत्त्वमात्र में स्थित रजस् और तमस् के पूर्ण प्रशमित, पूर्ण प्रसन्नचित्त का अलौकिक प्रकाश ही प्रज्ञा-प्रकाश है । इस प्रज्ञा-प्रसाद पर आरूढ़ साधक को सांसारिक मनोमल से युक्त क्लेशित प्राणी उसी प्रकार लगते हैं, जैसे सुन्दर शैल-शिखर पर आरूढ़ व्यक्ति को भूमि पर खड़े प्राणी बौने लगते हैं ।

छन्दोबद्ध सार

निर्विचार समाधि के सतत अभ्यास से
  मनोमल दूर, पूर्ण सत्त्वगुण आता है ।
जाग जाता प्रज्ञा का प्रकाश पूर्ण इस भाँति
  सृष्टि का रहस्य सारा योगी जान जाता है ।
चढ़े हुए शिखर समान भासमान चित्त
  अपने को ऊँचा उठा हुआ दिव्य पाता है ।
उच्चता से वंचित प्रपंचरत जगत् तो
  बौने के समान असमर्थ दृष्ट आता है ।

❀ ऋतम्भरा प्रज्ञा का जागरण ❀

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥48॥

शब्दार्थ—तत्र = उस अध्यात्म-प्रसाद के लाभ होने पर । प्रज्ञा = बुद्धि । ऋतम्भरा = ब्राह्माण्डिक सत्य को जानने वाली होती है ।

सूत्रार्थ—उस आध्यात्मिक प्रसाद के प्राप्त होने पर साधक की बुद्धि ब्रह्माण्डीय यथार्थ को जानने में सक्षम हो जाती है ।

तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति । अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति । न च तत्र विपर्यासज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति । तथा चोक्तम्—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥इति ॥48॥

समाहित चित्तवाले योगी में वैशारद्य काल में जो विशिष्ट प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसका नाम 'ऋतम्भरा' है । वह अन्वर्थनामा अर्थात् सार्थक नाम वाली होती है । वह

सत्य को ही धारण करती है। उसमें मिथ्याज्ञान का लेशमात्र भी नहीं रहता है। कहा भी गया है—

वेद-शास्त्र-श्रवण ज्ञान से, अनुमानजन्य ज्ञान से, निदिध्यासनपूर्वक ध्यानाभ्यास से—इन तीनों उपायों से प्रज्ञा को साधते हुए योगी उत्तम योग को प्राप्त करता है।

योगदीपिका

निर्विचार समाधि में अभ्यासजन्य सौष्ठव प्राप्त कर लने पर साधक में एक विशिष्ट प्रकार की प्रज्ञा अर्थात् बौद्धिक सामर्थ्य उत्पन्न होती है, जिसमें लेशमात्र मिथ्या ज्ञान का स्पर्श नहीं रहता है। उस यथार्थबोधिनी प्रज्ञा के प्रकाश में साधक समस्त ब्राह्मण्डीय रहस्यों को जानने में समक्ष हो जाता है। उसके लिए कुछ अज्ञात नहीं रह जाता है। प्राचीन ऋषि-मुनि इसी के आलोक में मन में उठते भावों तक को जान लेते थे। भूगोल और खगोल का सम्पूर्ण ज्ञान मुष्टिगत होता था। 'ऋतम्भरा' शब्द का अर्थ होता है—यथार्थ-बोधक ज्ञान। 'ऋतं सत्यं बिभर्ति धारयति इति ऋतम्भरा'।

छन्दोबद्ध सार

परिपक्व होती है समाधि निर्विचार जब
तब सत्यबोधक प्रकाश दिव्य आता है।
ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्राकट्य होता साधक में
सृष्टि का रहस्यपूर्ण ज्ञान खुल जाता है।
मुष्टिगत होता है स्थूल-सूक्ष्म जग सारा
प्रकृति-पुरुष भेद प्रकट दिखाता है।
बन्द आत्मज्ञान का कपाट खुल जाता, योगी
कैवल्य की प्राप्ति हेतु चरण बढ़ाता है।

सा पुनः—

और वह (प्रज्ञा)—

❀ ऋतम्भरा प्रज्ञा की सर्वोत्कृष्टता ❀

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥49॥

शब्दार्थ—श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम् = श्रवण और अनुमान से होने वाली बुद्धि की अपेक्षा। अन्यविषया = भिन्न विषय वाली है। विशेषार्थत्वात् = विशेष अर्थवाली होने से।

सूत्रार्थ—वेदशास्त्र और आप्तपुरुषों के वचनों से और अनुमान से प्राप्त होने वाले ज्ञान की अपेक्षा ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्राप्त होने वाला ज्ञान विशिष्ट है ।

श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयम् । न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुम् । कस्मात् ? न हि विशेषेण कृतसङ्केतः शब्द इति । तथाऽनुमानं सामान्यविषयमेव । यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिर्यत्र न प्राप्तिस्तत्र न गतिरित्युक्तम् । अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः । तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति । न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति । न चास्य विशेषस्याप्रमाणकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञा-निर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति । भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा । तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ॥49॥

वेद-शास्त्रजन्य प्रज्ञा से और अनुमानजन्य प्रज्ञा से यह ऋतम्भरा प्रज्ञा श्रेष्ठ है, क्योंकि श्रुत है आगमप्रमाणजन्य ज्ञान, वह पदार्थों के सामान्य स्वरूप विषयक होता है । आगमज्ञान के द्वारा पदार्थ का विशेष स्वरूप नहीं कहा जा सकता है । किस कारण से ? इसलिए कि शब्दों का संकेत पदार्थों के विशेष में नहीं होता । इसी प्रकार अनुमानजन्य ज्ञान भी पदार्थों के सामान्य स्वरूप विषयक ही होता है । उदाहरणार्थ—जिसमें पहुँचने की शक्ति होती है, उसमें गति होती और जिसमें पहुँचने की शक्ति नहीं होती, उसमें गति नहीं होती है—ऐसा कहा गया है । इस प्रकार अनुमान की पहुँच सामान्य ज्ञान में ही होती है । इस प्रकार आगम और अनुमान से विशिष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है । लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान से सूक्ष्म और दूरस्थ वस्तु की विशिष्टताओं का ज्ञान नहीं हो पाता है । इन सभी प्रमाणों से ग्रहण न हो सकने वाले पदार्थों के गूढ़ ज्ञान, सूक्ष्म भूतगत ज्ञान व अतिसूक्ष्म 'पुरुष'गत विशिष्ट ज्ञान समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा से गृहीत हो जाते हैं । इसलिए श्रुत और अनुमानजन्य प्रज्ञा से भिन्न विषय वाली यह ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रवर है ।

योगदीपिका

वेद-शास्त्रों मे किसी विषय अथवा वस्तु के स्वरूप का वर्णन सुनने से जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है; इसी प्रकार अनुमान (युक्ति) प्रमाण से जो वस्तु के स्वरूप का आभास होता है वह अनुमान बुद्धि से प्राप्त ज्ञान है । ये दोनों ज्ञान-स्रोत वस्तु के सामान्य स्वरूप का ही परिचय करा पाते हैं, विशेष में इनकी सटीक पहुँच नहीं है । प्रत्यक्ष प्रमाण भले ही वस्तु का निकट से यथार्थ ज्ञान करा सकता है, किन्तु ज्ञानेन्द्रियों की सीमित शक्ति है, अस्तु दूरस्थ और अतीन्द्रिय सूक्ष्म तक पहुँचने में उनकी क्षमता पंगु है, किन्तु निर्विचार समाधि की परिपक्वता में उत्पन्न होने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा सूक्ष्मतम, और दूरस्थ अदृश्यतम पदार्थों के विशेष रूप का भी यथार्थ दर्शन प्राप्त किया जा सकता है । अतः अन्य सभी ज्ञानों—आगम, अनुमान, प्रत्यक्ष प्रमाणों से प्राप्त होने वाले ज्ञानों से बढ़-चढ़कर ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य ज्ञान है ।

छन्दोबद्ध सार

श्रुतानुमानजन्य जितनी भी प्रज्ञाएँ हैं सारी ।
'ऋतम्भरा प्रज्ञा' उन सबसे पड़ जाती है भारी ॥
सूक्ष्म यथार्थ ज्ञान 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा ही दे पाती ।
यह विशिष्ट है, आत्मज्ञान-वाहिका बनी है आती ॥

समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते ।

समाधि प्रज्ञा की प्राप्ति होने पर योगी का प्रज्ञाकृत नया-नया संस्कार उत्पन्न होता है ।

⊛ ऋतम्भरा प्रज्ञा का महत्त्व ⊛

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥50॥

शब्दार्थ—तज्जः = उससे उत्पन्न होने वाला । संस्कारः = संस्कार । अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी = दूसरे संस्कारों को रोकने वाला है ।

सूत्रार्थ—ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार व्युत्थानकाल के संस्कारों को बाधित करने वाला है ।

समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थानसंस्काराशयं बाधते । व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति । प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते। ततः समाधिजा प्रज्ञा, ततः प्रज्ञाकृताः संस्काराः इति नवो नवः संस्काराशयो जायते । ततश्च प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति । कथमसौ संस्कारातिशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति ? न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशक्षयहेतुत्वाच्चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति । चित्तं हि ते स्वकार्यादवासादयन्ति । ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति ॥50॥

समाधि प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार व्युत्थानकालिक संस्कारों के समुदायों को बाधित करने वाले हैं । व्युत्थानकालिक संस्कारों के दबने से उनसे उत्पन्न होने वाली प्रमाण विपर्यादि वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं । वृत्तिनिरोध होने पर समाधि आ जाती है । उस समाधि से ऋतम्भरा प्रज्ञा और ऋतम्भरा प्रज्ञा से तदनुकूल संस्कार उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार उससे जो नया संस्कार उत्पन्न होता है, उससे ऋतम्भरा प्रज्ञा पुष्ट होती है और फिर उससे नये-नये शुभ संस्कार उदित होते रहते हैं और यह चक्र चलता रहता है । प्रतिदिन प्रज्ञा से संस्कार और संस्कार से प्रज्ञा का उदय होता रहता है । प्रश्न उठता है कि ये बारम्बार उठते संस्कार चित्त को वृत्तिमय क्यों नहीं कर देते ? उत्तर है कि ये प्रज्ञाजन्य संस्कार क्लेशों को क्षीण करने वाले होने के कारण

चित्त को भोगात्मक वृत्तियों से निवृत्त करते हैं। चित्त की भोगात्मक प्रवृत्तिजन्य क्रियाशीलता 'विवेकख्याति' के उदयपर्यन्त ही होती है अर्थात् सात्त्विक ज्ञान-प्रवाह के उपरान्त भोगात्मक वृत्तियों की क्रियाशीलता रुक जाती है।

योगदीपिका

मनुष्य जो सोचता, अनुभव करता या कर्म करता है अथवा जिन परिस्थितियों से होकर गुजरता है, उन सबकी छाप उसके हृदय पर पड़ जाती है। यही छाप (impression) संस्कार है। ये सब अन्त:करण अथवा अन्तर्मन में इकट्ठे होते जाते हैं। संस्कारों के इसी संचय को योगशास्त्र में 'कर्माशय' कहा गया है। ये ही मनुष्य को संस्कार-चक्र में भटकाने वाले हैं। इनके पूर्ण नाश से ही मनुष्य मुक्ति-लाभ कर सकता है। इस सूत्र में बताया गया है कि ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न दिव्य संस्कार भोग-वृत्ति और उनमें आसक्ति के संस्कारों को निर्मूल करके, राग-द्वेष को हीन बनाकर चित्त को पूर्ण निर्मल कर देते हैं।

छन्दोबद्ध सार

दोषपूर्ण संस्कार मल भार लाद लाते
संचित हो मन में विकार उपजाते हैं।
भटकाते जीव को फँसाते कष्ट जाल में वे
नष्ट कर जीवन को नरक बनाते हैं।
ऋतम्भरा प्रज्ञा जब साधक में आती तब
सारे संस्कार दोषपूर्ण जल जाते हैं।
चल पड़ता है चक्र शुभ संस्कार-युक्त
मुक्त हुए जीव मुक्ति-लाभ शीघ्र पाते हैं।

किं चास्य भवति ?

और इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उद्भूत संस्कार (समुदाय) का क्या होता है ?

❁ ऋतम्भरा प्रज्ञा की देन - निर्बीज समाधि ❁

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥51॥

शब्दार्थ—(पर वैराग्य द्वारा) तस्य = उस ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य संस्कार के। अपि = भी। निरोधे = निरुद्ध हो जाने पर। सर्वनिरोधात् = (पुरातन-नूतन) सब संस्कारों के निरोध से। निर्बीज: समाधि: = निर्बीज समाधि होती है।

सूत्रार्थ—परवैराग्य द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य संस्कार के भी निरुद्ध हो जाने पर, पुराने नये सभी संस्कारों के दग्धबीज हो जाने पर निर्बीज समाधि होती है ।

स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी । प्रज्ञाकृतानामपि संस्काराणां प्रतिबन्धी भवति । कस्मात् ? निरोधजः संस्कारः समाधिजान् संस्कारान् बाधत इति । निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम् । व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृतावविस्थितायां प्रविलीयते । तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्याधिकारविरोधिनो न स्थितिहेतवो भवन्तीति । यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्तते । तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यत इति ॥51॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे श्रीमद्व्यास-
भाष्ये समाधिपादः प्रथमः ॥1॥

वह निर्बीज समाधि न केवल 'समाधि प्रज्ञा' की विरोधिनी है, अपितु समाधि प्रज्ञा जन्य संस्कारों को भी प्रतिबन्धित करती है । कैसे ? क्योंकि निरोधजन्य संस्कार समाधितजन्य संस्कारों को बाधित करता है । निरोध स्थिति के कालक्रम के अनुभव द्वारा निरुद्ध चित्त जनित संस्कारों का अस्तित्व अनुमान से ज्ञानगम्य है । लौकिक व्यवहार रूपी व्युत्थानकालिक संस्कारों तथा सम्प्रज्ञात समाधिकालिक व्युत्थान के संस्कारों का निरोध करने वाली असम्प्रज्ञात समाधि में उत्पन्न होने वाले कैवल्य प्रदायक चित्त के संस्कारों के साथ चित्त अपने कारण प्रकृति में अर्थात् अव्यक्त तत्त्व में विलीन हो जाता है । (यहाँ असम्प्रज्ञात समाधि की भूमि पर सम्प्रज्ञात समाधि को भी व्युत्थान कहा गया है ।) इसलिए ये निरोध संस्कार चित्त के कार्य के विरोधी होते हैं; उनकी स्थिति कराने वाले नहीं । कारण यह है कि इन कैवल्यानुकूल संस्कारों के साथ कृतकृत्य चित्त स्वयं निवृत्त हो जाता है । इन निवृत्त्युपरान्त पुरुषतत्त्व स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, अतः केवल शुद्ध-मुक्त ऐसा कहा जाता है ।

योगदीपिका

इस सूत्र में निर्बीज समाधि, उसके स्वरूप और उसकी उपलब्धि का कथन है । निर्बीज समाधि वह स्थिति है, जब परमवैराग्योदय और ऋतम्भरा प्रज्ञोदय से चित्त कुसंस्कारों से पूर्ण मुक्त होकर सुसंस्कारों से परिपूरित अपनी निर्मलता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, यह स्थिति रजस्-तमस् से पूर्ण मुक्त शुद्ध सात्त्विक गुणजन्य होती है । निर्बीज समाधि तब आती है जब पुरातन और नवीन सारे संस्कार चित्त में विलीन हो जाते हैं । यहाँ तक सत्त्वगुणजन्य संस्कार (impression) भी समाप्त हो जाते

हैं, क्योंकि सत्त्व भी तो गुण में आता है और गुण जिसे रस्सी भी कहा जाता है, भले वह सोने की ही क्यों न हो, बन्धन तो करेगी ही । निर्बीज समाधि में त्रिगुणों और संस्कार के बीज दग्ध हो चुके होते हैं, उनकी अंकुरण क्षमता शून्य हो गयी होती है । इस स्थिति में साधक का चित्त अपनी सत्ता को पुरुषतत्त्व में विलीन कर चुका होता है । साधक जीवन्मुक्त हो जाता है । शर्मीली प्रकृति अपने मायाजाल को समेट कर ओझल होकर पुरुष को अपने पुरुषत्व का अखण्ड अनुभव करने हेतु पूर्ण मुक्त कर देती है । फिर उसकी स्थिति गीता के स्थितप्रज्ञ वाली हो जाती है । उसकी भेदयुक्त दु:खद स्थिति का पूर्ण अवसान हो जाता है । 'सियाराम मय सब जग जानी' अथवा 'निज प्रभुमय देखहिं जगत के हि सन करहिं विरोध' वाली रामचरितमानसोक्त स्थिति आ जाती है । फिर तो—'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है' 'लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल' वाली सन्त-महापुरुषों की उक्तियों में उस पुरुष की स्थिति की झलक देखी जा सकती है । यह ऐसी स्थिति है जब राग-द्वेष, सुख-दु:ख के झंझावातों के थपेड़े साधक को विचलित नहीं कर पाते । उससे टकराकर लौट जाते हैं । जब तक साधक भौतिक शरीर मे रहता है, तब तक अखण्ड आनन्द का उपभोग करता है और शरीर छूटने पर आवगमन के चक्र से छूटकर 'कैवल्य' पद प्राप्त करता है ।

छन्दोबद्ध सार

शुभ संस्कार बार-बार है जगाती जाती
    ऋतम्भरा प्रज्ञा जब साधक में आती है ।
चित्त को विशुद्ध कर उक्त प्रज्ञा छिप जाती
    साथ-साथ सारे संस्कार जला जाती है ।
चित्त संस्कार बीज से विहीन होता तब
    निर्बीज समाधि मुक्ति-माल पहनाती है ।
प्रकृति के बन्धनों से मुक्त साधक के हेतु
    निर्बीज समाधि पूर्ण मुक्ति-लाभ लाती है ।

विशेष—योग की सारी साधनाएँ, मुक्ति-लाभ आदि सबके लिए समान रूप से उपयोगी हैं । वर्ण, आश्रम, देश, जाति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है । नम्र निवेदन है कि जिज्ञासु इसे भुला दें कि समाधि गड्ढा खोद कर, घर-द्वार छोड़कर साधु-संन्यासी बनकर ही सिद्ध की जा सकती है । समाधि एकाग्रचित्त की वह स्थिति है, जो योग-साधना से प्राप्त की जा सकती है । यह व्यक्ति को सुखी और सक्रिय बनाती है, कर्म-कुशल बनाती है । उसके दु:ख-द्वन्द्व मिटाती है । जिस सुख-प्राप्ति के लिए व्यक्ति दिन-रात एक कर देता है, अशान्त और तनाव-ग्रस्त होकर विक्षिप्त बना

घूमता है, उस सुख-शान्ति और स्वास्थ्य को योग-साधना सहज रूप में दिलाती है। कबीर आदि योग-साधक इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। कबीर ने 120 वर्षों की स्वस्थ दीर्घायु प्राप्त कर सक्रिय जीवन बिताया था। ऐसे ही और अनेक उदाहरण हैं।

योग-साधना में व्यक्ति को पाना ही पाना है। योग-साधना स्वास्थ्य, सौख्य, दीर्घायुष्य के साथ ही साधक को अनन्त शक्तियों का स्वामी बना देती है। लोक और परलोक दोनों में वह साथ निभाती है। पूरा संसार एक स्वर से योग की महत्ता मान चुका है। पातञ्जलयोगदर्शन का अध्ययन, चिन्तन-मनन योग के सूक्ष्म रहस्यों को अवगत कराने में सक्षम है। गीता का अध्ययन पातञ्जलयोगदर्शन को स्पष्टतया समझने में परम सहायक है।

अथ साधनपादो द्वितीयः

उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः । कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते ।

एकाग्रचित वाले दक्षसाधक हेतु 'समाधिपाद' में उपदेश दिया जा चुका है। चंचल चित्तवाले योग-क्रियाएँ कैसे प्रारम्भ करें—इस विचार से यह 'साधनपाद' प्रारम्भ किया जा रहा है।

⊛ क्रियायोग के प्रारम्भिक साधन ⊛

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥1॥

शब्दार्थ—तपः स्वाध्याय-ईश्वर-प्रणिधानानि = तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान। क्रियायोगाः = क्रियायोग है।

सूत्रार्थ—तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान 'क्रियायोग' के प्रारम्भिक अंग हैं। क्रियायोग एक पारिभाषिक शब्द है, जिसमें 'तप', 'स्वाध्याय, 'ईश्वरप्रणिधान' तीन आते हैं।

नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति । अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यत इति तपस उपादानम् । तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनाऽऽसेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा ॥1॥

तपश्चर्याशून्य साधक का योग सिद्ध नहीं होता। प्रवाह से अनादि कर्मों एवं क्लेशों की वासनाओं से चित्रित तथा विषयसमूह को उपस्थित करने वाली अशुद्धि बिना तपश्चर्या के सम्यक् रूप से शिथिल हो छिन्न-भिन्न नहीं हो सकती; इसलिए प्रथम तपश्चर्या को ग्रहण करने का निर्देश है। चित्तप्रसादकर हो, उसे बाधित करने वाली न हो, ऐसी तपश्चर्या योगियों द्वारा सेव्य है, ऐसा माना जाता है। प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप और मोक्षज्ञानप्रद शास्त्रों का अध्ययन 'स्वाध्याय' कहा जाता है। सम्पूर्ण कर्मों को परमगुरु परमात्मा को अर्पण कर देना और उनके लौकिक फलों के प्रति अनिच्छा का भाव 'ईश्वरप्रणिधान' है।

योगदीपिका

'तप', 'स्वाध्याय', 'ईश्वरप्रणिधान' ये 'क्रियायोग' हैं। 'समाधिपाद' में वर्णित उच्च साधकों की भाँति जिनके चित्त पूर्वार्जित योग-संस्कारों से संस्कारित नहीं हैं,

जन्म-जन्मान्तर के वासना-जाल जिन्हें जकड़े हैं, किन्तु किन्हीं कारणों से जिनमें योग की अभिरुचि जाग्रत् हो गयी है, उन्हें उपनी चित्तभूमि को योग की उर्वर भूमि बनाने के लिए निम्न साधन अपनाने चाहिए ।

(1) **तप**—तप से तात्पर्य काया को क्लेश देना, पंचाग्नि को तापना, या घनघोर शीतकाल में जल में खड़े होना या इसी प्रकार की अन्य क्लिष्ट साधनाएँ अपनाना नहीं हैं । साधना काल में आयी अड़चनों का सामना करना, प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्त में उठना, स्नानादि करना, आवश्यक उपवास या शरीर-शोधन के लिए योग-निर्धारित क्रियाओं के सम्पादन में यदि कष्ट आये तो उसे सहर्ष सहना 'तप' है । संसार में रहकर अपने कर्तव्य-पालन में आने वाले सुख-दुःख, मानापमान, शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहर्ष सहन करना 'तप' ही है । तृष्णा-त्याग, इन्द्रिय-निग्रह आदि में जिह्वा, स्वादादि को त्यागने में, शुद्ध सात्त्विक वृत्ति अपनाने में, मन-बुद्धि के संयम में, विषय-त्याग में यदि कष्ट का अनुभव हो, तो उसे सुखपूर्वक सहना भी 'तप' ही है । ऐसा करने में चित्त की शुद्धि होगी, सात्त्विकता की वृद्धि होगी, जो कि योग-साधना का पथ प्रशस्त करेगी ।

(2) **स्वाध्याय**—वेदशास्त्रादि ज्ञान, वैराग्य, अध्यात्म भाव को पुष्ट करने वाले ग्रन्थों तथा योग-विषयक साहित्य का अध्ययन, 'ओम्' आदि पवित्र ईश्वर नामों का जप, समस्त योग-क्रियाओं में मिलने वाली सिद्धि और शुभकर्मों के लिए परमपुरुष परमात्मा को हेतु मानना ताकि अहंकार का निरसन हो 'स्वाध्याय' है । आत्मचिंतन, अपनी चित्तवृत्तियों का अध्ययन अर्थात् विवेक द्वारा अपने दोषों को जानकर उन्हें दूर करना भी 'स्वाध्याय' है ।

(3) **ईश्वरप्रणिधान**—ईश्वर-भक्ति एवं अपने समस्त कर्मों को अनासक्त भाव से ईश्वर को श्रद्धापूर्वक समर्पित कर देना । इस क्रिया से कर्मासक्ति और अहंकार का निरसन होता है । शुद्ध भावों से योग क्रिया के प्रति अभिरुचि बढ़ती है ।

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' ।

'मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझको सौंपता क्या लागे है मेरा' ॥

'मैं तो कुतवा राम का, मोतिया मेरा नाउँ ।
गले राम की जेवड़ी, जित खींचै तित जाउँ' ॥ (कबीर)

छन्दोबद्ध सार

'तप' 'स्वाध्याय' 'ईशप्रणिधान' क्रियायोग,
प्रारम्भिक साधकों के हेतु बतलाते हैं ।

'क्रियायोग में मिले जो दु:ख-द्वन्द्व सहो उसे
यही 'तप' जिससे कि विघ्न जल जाते हैं।
नाम जपो, सद् ग्रन्थ पढ़ो, आत्मशोध करो
है यही स्वाध्याय जिसे सुधी समझाते हैं।
सारे कर्म करो ईश अर्पण, न गर्व करो
'ईशप्रणिधान' यही शास्त्र जो सुझाते हैं।

विशेष—इस सूत्र को भली प्रकार से समझने के लिए गीता का 16वाँ अध्याय विशेष पठनीय है। अन्य अध्याय भी अध्येय हैं।

स हि क्रियायोगः—

वह क्रियायोग निश्चय ही (निम्न रूप में फलदायक है)—

⊛ पूर्वोक्त क्रियायोग का फल ⊛

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥2॥

शब्दार्थ—(यह क्रियायोग) समाधिभावनार्थः = समाधि की सिद्धि करने वाला। च = और। क्लेशतनूकरणार्थः = अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करने वाला है।

सूत्रार्थ—(सूत्र क्रम 1 में वर्णित क्रियायोग) समाधि को सिद्ध करने वाला तथा अविद्यादि पञ्च क्लेशों को क्षीण करने वाला है।

स ह्यासेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च प्रतनूकरोति। प्रतनूकृतान् क्लेशान् प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति। तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति ॥2॥

सुसेवित क्रियायोग समाधि को सम्पन्न कराता है और क्लेशों को समुचित रूप से क्षीण करता है। वह निर्बल बने क्लेशों को 'विवेकख्याति' रूपी अग्नि के द्वारा दग्ध कर दग्धबीज के सदृश उत्पादक शक्ति से शून्य कर देगा। उनके निर्बल पड़ जाने पर क्लेशों से पुनः मिश्रित न होने वाली 'विवेकख्याति' अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद को समझ सकने वाली सूक्ष्म बुद्धि अपना कार्य पूरा कर 'अव्यक्त' अर्थात् प्रकृति में लीन हो जाने में समर्थ हो जायेगी।

योगदीपिका

अविद्यादि क्लेश (जिनका आगे वर्णन किया जायेगा) जिनके संस्कार बीज रूप से चित्त-भूमि में अनादि काल से क्रियाशील रहते हैं, उनको क्षीण कर चित्त को

समाधि योग्य बनाने में क्रियायोग का महत्त्वपूर्ण योगदान है । तप से शरीर, मन, इन्द्रिय, चित्तादि के मल जल कर भस्म हो जाते हैं और अग्नि में तपे मलाच्छादित धातु के पात्र की भाँति विमल बन जाते हैं । स्वाध्याय से चित्त शुद्ध होता है और विक्षेपों के आवरण से रहित समाहित होने की योग्यता पा लेता है । ईश्वरप्रणिधान से समाधि-सिद्धि में सहायता मिलती है और क्लेशों की निवृत्ति होती है । क्लेशों के दग्धबीज होने पर परवैराग्य उत्पन्न होता है, ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है फिर सारे संस्कार जलकर भस्म हो जाते हैं और 'असम्प्रज्ञात' समाधि लाभ होता है ।

छन्दोबद्ध सार

क्रियायोग आता क्लेश-जाल को जलाता
चित्त की समाधि योग्य भूमि को बनाता है ।
संस्कारबीज वासनाओं को जलाता जब
चित्त तब विमल विशिष्ट रूप पाता है ।
पूर्णतत्त्वज्ञान का महान है उदय होता
ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्रकाश पूर्ण छाता है ।
संस्कार जल जाते मल हीन साधक में
सुखद समाधि का सुहाना रूप आता है ।

अथ के ते क्लेशाः ? कियन्तो वा इति ?

अब वे क्लेश कौन है और कितने हैं ? (यह बताया जायेगा)

⊛ पञ्च क्लेश ⊛

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥3॥

शब्दार्थ—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः = अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरण-भय) । क्लेशाः = कष्ट हैं ।

सूत्रार्थ—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँचों क्लेश हैं ।

क्लेशा इति, पञ्च विपर्यया इत्यर्थः । ते स्यन्दमाना गुणाधिकारं द्रढयन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति, कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्रीभूय कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति ॥3॥

'क्लेश' का अर्थ पञ्च विपर्यय अर्थात् पाँच प्रकार के मिथ्या ज्ञान हैं । ये पाँचों क्लेश प्रकट होकर त्रिगुणों की क्रियाशीलता को बढ़ाते हैं । गुणों की परिणाम-धारा

को प्रवाहित करते हैं और कार्य-कारण के स्रोत को उत्पन्न करते हैं, परस्पर सहयोग पूर्वक कर्म-फल को सम्पन्न करते हैं।

योगदीपिका

ये पाँचों प्रकार के 'क्लेश' पाँच प्रकार के मिथ्या ज्ञान हैं। वास्तविकता को अर्थात् यथार्थ के विपरीत समझना मिथ्या ज्ञान है। साँप को रस्सी समझ बैठना इसका उदाहरण है। आत्मा नित्यमुक्त गुणातीत है, किन्तु इसी विपर्यय वृत्ति के कारण वह बन्धन में पड़ी जन्म-मरण के चक्र में चक्कर काटा करती है। यदि विचार किया जाय तो 'अस्मिता' मैं अमुक-अमुक रूप में हूँ—शरीर हूँ, एक विशेष नाम, जाति या पदधारी हूँ, यह अहंकार या मैं-पना ही अज्ञान या अविद्या है और यही जीव को अपने वास्तविक शुद्ध-बुद्ध, चिन्मयानन्द रूप से वंचित रखती है। राग-द्वेष भी इसी 'मैं-पन' में जकड़े रहने से होता है। 'अभिनिवेश' अर्थात् मरण-भय भी इसी शरीर भाव से जुड़े रहने के कारण होता है, अन्यथा शुद्ध आत्मबोध में तो मरण है ही नहीं। शरीर समाप्त होता है, जो आत्मा नहीं बल्कि उसका चोला है। त्रिगुणों की देन, उन्हीं से संचालित ये पाँचों 'क्लेश' मिल-जुलकर निरन्तर जीव को बाधित करते हैं, क्लेशित करते हैं, अस्तु क्लेशरूप हैं।

छन्दोबद्ध सार

'अविद्या' 'अस्मिता' औ 'राग' 'अभिनिवेश' 'क्लेश'
पाँच ये विशेष जो कि जीव को सताते हैं।
पाँचों मिथ्या ज्ञान मिले-जुले कार्य करते हैं,
जीव को विविध योनियों में भटकाते हैं।
सत्य का न ज्ञान होने देते, बलवान बड़े
रागद्वेषबद्ध जुल्म जीव पै ढहाते हैं।
अस्मिता अशुद्ध, अस्तु 'अभिनिवेश' से निरुद्ध
पुरुष मरण-भयग्रस्त हो कष्ट पाते है।

❁ क्लेश का मूल अविद्या ❁

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥4॥

शब्दार्थ—अविद्या = अविद्या नामक क्लेश। क्षेत्रम् = कारण। उत्तरेषाम् = बाद वालों का। प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् = जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार अवस्था वाले हैं।

सूत्रार्थ—सूत्र संख्या तीन में बताये गये अविद्या क्लेश के बाद जो शेष चारों क्लेश—अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हैं, उनकी उत्पत्ति-भूमि 'अविद्या' है। ये चारों प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थाओं में रहने वाले हैं।

अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधकल्पानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् । तत्र का प्रसुप्तिः ? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः । तस्य प्रबोध आलम्बने सम्मुखीभावः । प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य सम्मुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुलः प्ररोह इति । अतः क्षीणक्लेषः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते ।

तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति । सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य सम्मुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इति । उक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्च । तनुत्वमुच्यते—प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति । तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनाऽऽत्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः । कथम् ? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात् । न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति । रागश्च क्वचिद् दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति । नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्त इति । किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद् वृत्तिरिति । स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति । विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः । सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामन्ति । कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्ततनुरुदारो वा क्लेश इति । उच्यते—सत्यमेवैतत् । किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम् । यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त इति ।

सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः । कस्मात् ? सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते । यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्यासप्रत्ययकाले उपलभ्यन्ते क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति ॥4॥

यहाँ (इन पंचक्लेशो में से) 'अविद्या' नामक क्लेश प्रसुप्त (सोये पड़े हुए) तनु (हल्के पड़ हुए), विच्छिन्न (टूटे हुए) और उदार (उभरे हुए) अवस्था वाले चार प्रकार के अगले अस्मितादि क्लेशों की जननी (उत्पत्ति-स्थली) है। उनमें से 'प्रसुप्ति' क्या है ? (उत्तर है—) चित्त में शक्तिमात्ररूप से अवस्थित क्लेशों की जो बीजभाव की प्राप्ति है, वही 'प्रसुप्ति' है। प्रसुप्त क्लेश की आलम्बन में अर्थात् अपने विषय में अभिव्यक्ति ही 'प्रबोध' है। विवेकख्याति युक्त दग्धक्लेश बीज वाले योगी के समक्ष व्यंजक विषय (आलम्बन) के होने पर भी क्लेश उद्बुद्ध नहीं होता। दग्धबीज क्लेश का अंकुरण कैसे होगा ? इसलिए वह साधक क्षीण क्लेश कुशल तथा अन्तिम देह वाला कहा जाता है। वह दग्धबीज भाव नाम वाली पाँचवीं क्लेशावस्था विवेकख्याति-युक्त योगी की ही होती है, अन्य की नहीं। तब तक क्लेशों के अंकुरण

की क्षमता दग्ध हो चुकी होती है । अस्तु विषय के समक्ष रहने पर भी इन क्लेशों की समुत्पत्ति नहीं होती है । इस प्रकार इनकी प्रसुप्ति एवं दग्धबीजों का अनंकुरण कह दिया गया है ।

अब 'तनुत्व' कहा जा रहा है—प्रतिपक्ष (क्रियायोग) के अनुभावन अर्थात् अनुष्ठान से आक्रान्त क्लेश तनु (क्षीण) हो जाते हैं । उसी प्रकार रुक-रुक कर उस-उस रूप में पुनः-पुनः प्रकट होते रहते हैं, इसलिए 'विच्छिन्न' कहे जाते हैं । कैसे ? जैसे राग के समय क्रोध के न दिखाई पड़ने से । राग काल में क्रोध क्रियाशील नहीं होता है । कहीं दीखने वाला राग विषयान्तर में नहीं है, ऐसा नहीं होता है । (जैसे) चैत्र नामधारी कोई पुरुष किसी एक स्त्री में अनुरक्त होने के कारण दूसरी स्त्री में विरक्त तो नहीं होता, उसी प्रकार (यहाँ भी समझना चाहिए) । अपितु उसमें राग वर्तमान है, अन्यों में भविष्य में होने वाला है । वही (राग) तब प्रसुप्त, तनु या विच्छिन्न होता है । विषय के प्रति जो प्रकट रहता है, वह 'उदार' है (उदार का आशय उभार है)।

ये समस्त क्लेश विषयत्व का परित्याग नहीं करते हैं, अर्थात् क्लेश रूप में बने रहते हैं । इस स्थिति में विच्छिन्न, प्रसुप्त, तनु अथवा उदार क्लेश कौन हैं ? यह सत्य ही है । अवस्था विशेष के कारण ही इनके विच्छिन्न आदि (नाम) हैं । जैसे प्रतिपक्ष भावना (विरोधी कारण) से निवृत्त होता है, वैसे ही अपने अभिव्यंजक कारण से प्रकट हो जाता है । ये समस्त क्लेश अविद्या के भेद हैं । क्यों ? (उत्तर है—) सबमें 'अविद्या' की व्याप्ति है । अविद्या से जो वस्तु विषय रूप से उपस्थित की जाती है, क्लेश उसी का अनुगमन करते हैं । (वे) अविद्या काल में उपलब्ध होते हैं और अविद्या के क्षीण होने पर विनष्ट हो जाते हैं ।

योगदीपिका

अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन चारों क्लेशों की उत्पत्ति का कारण 'अविद्या' है । इनकी चार अवस्थाएँ हैं—

प्रसुप्त—चित्त में विद्यमान रहते हुए भी जिस समय जो क्लेश अपना कार्य नहीं करते, उस समय उनकी प्रसुप्त अवस्था है । प्रलय काल और सुषुप्ति चारों ही क्लेशों की प्रसुप्तावस्था है । कामभावना शिशु में प्रसुप्त होती है, यौवन में जग जाती है । व्यक्ति के अन्तःकरण में जन्म-जन्मान्तर की भावनाएँ प्रसुप्त पड़ी रहती हैं, अनुकूल उद्बोधक पाकर जाग्रत् हो जाती है । योगाभ्यासी को इनके प्रति सावधान रहना चाहिए ।

तनु—तनु का अर्थ क्षीण हो जाना है । क्रियायोग के द्वारा ये क्लेश क्षीण होकर 'तनु' अवस्थागत होते हैं, इसीलिए साधकों मे ये दुर्बल अवस्था में रहते हैं,

किन्तु अनुकूल उद्बोधक पाकर असावधान होने पर प्रबल होकर साधक को साधनाच्युत कर सकते हैं। 'प्रसुप्त' और 'तनु' अवस्था में यह भेद है कि प्रसुप्तावस्था में संस्कार सोये हुए अर्थात् निष्क्रिय होते हैं, किन्तु 'तनु' अवस्था में कुछ जगे हुए क्षीणावस्था में रहते हैं।

विच्छिन्न—जब कोई क्लेश अपने उभार पर अर्थात् तीव्रावस्था में होता है, तब जो दूसरा क्लेश दब जाता है, यही उसकी 'विच्छिन्नावस्था' है। जैसे राग के प्रबल होने पर द्वेष और द्वेष के प्रबल होने पर राग दब जाता है। यही दब जाना 'विच्छिन्न' अवस्था है।

उदार—जब कोई क्लेश अपने तीव्रावस्था में रहता है तब वह उसकी उदार अवस्था मानी जाती है।

ये सभी क्लेश अविद्या की देन हैं। अविद्या का नाश होने पर इनका भी नाश हो जाता है। क्लेशों की अन्तिम अवस्था दग्धबीजत्व है। जब योगाभ्यास द्वारा साधक अविद्यादि क्लेशों को शक्तिहीन बना देता है, तब भुने हुए बीज की भाँति उनकी अंकुरण-क्षमता समाप्त हो जाती है और वे पूर्ण निष्क्रिय हो जाते हैं। यह विवेकख्याति अथवा पूर्ण तत्त्वज्ञान की अवस्था है। यह साधना सिद्धयोगियों की होती है। क्रियायोग का अभ्यास करते-करते साधक एक दिन साधना की परिपक्वावस्था में इस दग्धबीजत्व की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

छन्दोबद्ध सार

चार क्लेश राग-द्वेष-अभिनिवेश-अस्मिता जो,
जन्मदात्री इनकी 'अविद्या' कहलाती है।
उन चारों क्लेशों की अवस्थाएँ चार होतीं,
सुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार जानी जाती हैं।
सोई, क्षीण पड़ी, दबी, उभरी, प्रबल बनी,
इस भाँति क्लेशावस्था रूप दिखलाती हैं।
नष्ट तभी होतीं जब होती है अविद्या नष्ट,
संगिनी उन्हीं की कष्टकारी प्राणघाती हैं।

तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते—

उनमें से अविद्या का स्वरूप कहा जा रहा है—

⊙ अविद्या का स्वरूप ⊙

अनित्याऽशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या ॥5॥

शब्दार्थ—अनित्य-अशुचि-दुःख-अनात्मसु = अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में। नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः = (क्रमशः) नित्य, शुचि, सुख, आत्मा मानना। अविद्या = अविद्या है।

सूत्रार्थ—जो पदार्थ अनित्य, अपवित्र, दुःखरूप और अनात्म हैं, उन्हें क्रमशः नित्य, पवित्र, सुखरूप आत्मरूप मानना 'अविद्या' अर्थात् मिथ्या ज्ञान है। जो जैसा है उसके विपरीत समझ लेना 'अविद्या' है।

अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः। तद्यथा—ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकस इति। तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये, उक्तञ्च—

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥

इत्यशुचौ शरीरे शुचिख्यातिर्दृश्यते। नवेव शशाङ्कलेखाकमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति कस्य केनाभिसम्बन्धः? भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः। तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति—'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (यो.सू. 2:15) इति। तत्र सुखख्यातिरविद्या। तथानात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे, पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति। तथैतदत्रोक्तम् 'व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्ध इति'।

एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति। तस्याश्चामित्रागोष्पदवद्वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम्। यथा नामित्रो मित्रभावः न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नः। तथा चागोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्। एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः, किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ॥5॥

नश्वर पदार्थों में अनश्वरता का बोध (अविद्या है।) वह, जैसे कि पृथिवी नित्य, चन्द्र-तारकों समेत द्युलोक नित्य, देवगण नित्य हैं; ऐसा ज्ञान। वैसे ही अति अपवित्र परमबीभत्स शरीर में पवित्रता का बोध। इस विषय में कहा भी गया है—

उदर स्थान के गन्दगी से भरे होने के कारण, शरीर रचना के उपादान कारणरूप रज-वीर्य के कारण, उपष्टम्भ (रक्त-मेद-मांसादि) के आश्रयस्थल होने के

कारण 'निःस्यन्द' अर्थात् मल-मूत्र, पसीने आदि अपवित्र, घृण्य, दुर्गन्धपूर्ण पदार्थों के निकलते रहने के कारण, शरीर के मरणधर्मा होने के कारण, अशुद्ध होने से निरन्तर शौच की आवश्यकता के बने रहने के कारण ज्ञानीजन शरीर को अशुद्ध मानते हैं।

इस प्रकार तथाकथित सत्य के बावजूद लोगों द्वारा अपवित्र शरीर में पवित्रता विषयक बोध का वर्णन देखा जाता है। जैसे—"नवशशिकला सदृश इस कमनीय कन्या के अंग-प्रत्यंग मानो मधु (मकरन्द) या सुधा-सत्त्व द्वारा विनिर्मित हैं। मानो यह कन्या चन्द्र-मण्डल को फोड़कर निकली हो। नीलकमल-दल के समान विशाललोचना यह बाला निज हाव-भाव पूर्ण श्रृंगार-रस-सिक्त कमल कटाक्षों से मानो जीव-जगत् को संतृप्त कर रही है।" इन उपमाओं का किस उपमेय से यथार्थ सादृश्य या तालमेल है ? वस्तुतः उक्त कथन विवक्षित साधर्म्य के विपरीत है। इस प्रकार अशुद्ध शरीर में शुद्धि का विरुद्ध ज्ञान आरोपित है। इसी प्रकार अपुण्य में पुण्य और अनर्थ में अर्थ का ज्ञान भी व्याख्यायित हुआ जान लेना चाहिए। वैसे ही दुःख में सुख की समझ होना आगे के सूत्र (2:15) के द्वारा कहा जायेगा, (जो इस प्रकार हैं)—"**परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**।" (2:15) अर्थात् "परिणामताप एवं संस्काररूप दुःखों के कारण और गुण-वृत्तियों में परस्पर विरोध होने से ज्ञानीपुरुष की दृष्टि में सम्पूर्ण प्रपंच दुःखमय है। इस प्रकार दुःख में सुख का समझ पड़ना 'अविद्या' है। इसी प्रकार अनात्म वस्तु में आत्मख्याति (आत्मबोध) होती है। जैसे—बाह्योपकरण—शरीर, बन्धु-बान्धव, स्त्री, पुत्र, पशु आदि चेतन वर्ग और भूमि, धन-वैभव, पद-मान आदि अचेतन वर्ग, जो वस्तुतः आत्मस्वरूप नहीं हैं, उन्हें आत्मस्वरूप मानना 'अविद्या' है। उन्हें आत्मरूप समझकर उनकी सम्पन्नता पर प्रसन्न होना तथा उनकी विपन्नता पर अपनी विपन्नता मानकर खिन्न होना—ये सब अविवेक ही होता है।

यह अविद्या चार चरणों वाली होती है। यह क्लेश-प्रवाह तथा विपाकों सहित कर्म-संस्कार-समुदाय की मूलरूपा है। 'अमित्र' या 'अगोष्पद' पदों की भाँति इस अविद्या की सत्ता समझनी चाहिए। जैसे 'अमित्र' का अर्थ न मित्रमात्र है, न मित्र का अभाव है, वरन् उसके विपरीत शत्रु-बोधक है। जैसे अगोष्पद का अर्थ न तो गोष्पद मात्र है और न गोष्पद का अभाव ही है, अपितु, उन दोनों से भिन्न वस्तु एक देशविशेष है, इसी प्रकार 'अविद्या' भी न तो प्रमाण है और न प्रमाणाभाव है, अपितु विद्या के विपरीत ज्ञानान्तर अर्थात् अन्य ज्ञान ही है या अज्ञान है; ऐसा जानना चाहिए।

योगदीपिका

लोक और परलोक के समस्त भोग और उन भोगों में सुख समझने वाला यह शरीर अनित्य है। इस तथ्य को प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा जानकर भी उन्हें नित्य समझ कर राग-द्वेष में लिप्त हो जाना, यह अनित्य में नित्य अनुभूति रूप 'अविद्या' है।

अस्थि, चर्म, रक्त, मांस, मेद से निर्मित, मल-मूत्र से आपूरित और विविध मल को निष्कासित करने वाले सुन्दरी स्त्री के शरीरों को प्रत्यक्षरूप से परम अपवित्र

जानते हुए भी उनके शरीरों में परमासक्ति होना, अपवित्रता में पवित्रता की अनुभूति रूप 'अविद्या' है । इसी प्रकार अन्याय, चोरी, हिंसा आदि से कमाया हुआ धन अपवित्र है और राग-द्वेष, पाप, हिंसादि से भरा अन्तःकरण अपवित्र है, किन्तु उन्हें पवित्र मानना अर्थात् अपवित्रता में पवित्रता दर्शन रूप 'अविद्या' है ।

शरीर, इन्द्रिय, मन और चित्त सब जड़-प्रकृति के अंशरूप उसी के उत्पाद्य हैं, किसी चेतन से ये शक्ति पाकर सक्रिय होते हैं और उस चेतन शक्ति आत्मा के निकल जाने पर मृत हो जाते हैं, ऐसा समझ कर भी शरीर को ही अपना रूप आत्मा मान लेना अर्थात् अनात्मा में आत्मभाव की अनुभूति रूप 'अविद्या' है ।

संसार के विषय दुःखरूप हैं, भोग में रोग है । इस प्रकार दुःखालय संसार और उनके नश्वर भोगों को सुख रूप समझकर उनमें आसक्ति दुःख को सुख समझने रूप वाली अविद्या है ।

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों से वस्तुस्थिति का सामान्य ज्ञान हो जाने पर विपर्ययवृत्ति नहीं रहती है, किन्तु शरीर को प्रत्यक्ष मलाशय नश्वर जानकर भी उसमें आसक्ति बनी रहती है । इसी प्रकार दूसरे तथ्य भी माने जा सकते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि अविद्या विपर्ययवृत्ति नहीं है ।

छन्दोबद्ध सार

जीवन अनित्य पर नित्य मान बैठे उसे
पाप-पूर्ण कृत्य नित्य करते दिखाते हैं ।
अस्थि, चर्म, मल-मूत्र मय अपवित्र देह
मानते पवित्र मुग्ध रूप गुण गाते हैं ।
नश्वर शरीर को ही मान आत्मा का स्वरूप
तृप्ति हेतु रोग-प्रद भोग को जुटाते हैं ।
यही है 'अविद्या' क्लेश मूल बहुशूलप्रद
दुख को ही सुख जान जीवन गँवाते हैं ।

❀ अस्मिता का स्वरूप ❀

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥6॥

शब्दार्थ—दृग्दर्शनशक्त्योः = दृक्-शक्ति और दर्शन-शक्ति इन दोनों का । एकात्मता इव = एक रूप-सा हो जाना । अस्मिता = 'अस्मिता' है ।

सूत्रार्थ—'दृक् शक्ति' अर्थात् आत्मा और दर्शन शक्ति प्रकृति की प्रतीयमान एकात्मकता 'अस्मिता' नामक क्लेश है ।

पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते । भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते । स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति । तथा चोक्तम्—'बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् 'कुर्यात्तत्राऽऽत्मबुद्धिं मोहेनेति' ॥6॥

पुरुष देखने वाली शक्ति चेतन रूप है और बुद्धि देखने का साधन प्रकृति की उपज एक जड़ पदार्थ है । इन दोनों के परस्पर भिन्न होने पर भी एक रूप में प्रतीत होना 'अस्मिता' क्लेश कहा जाता है । भोक्तृशक्ति (भोक्ता) और भोग्यशक्ति (बुद्धि) नितान्त पृथक् तथा अमिश्रित है । भोक्तृशक्ति पुरुष और भोग्यशक्ति बुद्धि की अभिन्नरूपता की प्रतीति होने पर ही भोगों का अनुभव होता है । दोनों के स्वतन्त्र रूपों का बोध होने पर तो दोनों की केवलता अर्थात् अलगाव स्पष्ट हो जाता है भोग कहाँ हो सकता है ? इसलिए कहा गया है—अलग रूप, अलग स्वभाव और अलग जानकारी आदि कारणों से पुरुष को बुद्धि से या प्रकृति से भिन्न न देखते हुए उस बुद्धि को लोग अविद्या के कारण आत्मा समझ लेते हैं ।

योगदीपिका

पुरुष चेतन तत्त्व है, बुद्धि जड़ तत्त्व है, जो प्रकृति की उपज है । दोनों विजातीय हैं, परस्पर भिन्न हैं, किन्तु अविद्यावशात् जब बुद्धि चित्तादि अन्तःकरण के प्रभाव से पुरुष 'अहं पुरुषोऽस्मि' न मानकर 'अहं शरीरोऽस्मि' मान लेता है, तब यही भटकी हुई अस्मिवृत्ति 'अस्मिता' नामक क्लेश बन जाती है । इस प्रकार दृक्-शक्ति आत्मा और दर्शन-शक्ति प्रकृति परस्पर भिन्न तत्त्व हैं, किन्तु चिरसाहचर्यवश उनमें प्रतीयमान एकता की अनुभूति जब पुरुष करने लगता है, तब यही भ्रान्त एकात्मकता 'अस्मिता' क्लेश का रूप धारण कर लेती है ।

छन्दोबद्ध सार

चेतन पुरुष द्रष्टा, दृश्य है प्रकृति जड़
प्रकृति के अंश बुद्धि चित्त कहलाते हैं ।
दोनों भिन्न विजातीय चिरसाहचर्यवश
एकरूप बने भ्रान्ति-दर्शन कराते हैं ।
मानता पुरुष जब 'अहमस्मि बुद्धि' ऐसा,
भूल जाता 'पुरुषोऽस्मि' ऐसे सत्य नाते हैं ।
आती क्लेशवृत्ति 'अस्मिता' अनर्थ लाने वाली
मुक्त जीव प्रकृति में बद्ध कष्ट पाते हैं ।

⊛ 'राग' नामक क्लेश का स्वरूप ⊛

सुखानुशयी रागः ॥7॥

शब्दार्थ—सुखानुशयी = सुख भोगने के पीछे जो सुखोपभोग की पुनः इच्छा रहती है । रागः = राग है ।

सूत्रार्थ—सुखोपभोग के पीछे पुनः सुख मिलता रहे, ऐसी जो सुख के प्रति आसक्तिपूर्ण इच्छा है, वह 'राग' नामक क्लेश है ।

सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स राग इति ॥7॥

सुखोपभोग के सुख को जानने वाले का सुख स्मरणपूर्वक सुख या सुख के साधनभूत पदार्थ के प्रति जो ललक, तृष्णा या लोभ है, वह 'राग' है ।

योगदीपिका

जिसने सुखसाधनों का उपभोग किया है, उस सुख की स्मृति उस भोक्ता के हृदय में सचिंत हो जाती है । वह सुख पुनः उसे यथेष्ट रूप में मिलता रहे और इस प्रकार उसके प्रति जो एक ललक, तृष्णा या लोभ वृत्ति बन जाती है, वह 'राग' नामक क्लेश है । क्लेश इसलिए कि इच्छानुरूप न मिलने पर बेचैनी होती है तथा उसके न रहने पर अभावजन्य कष्ट होता है । यह वैराग्य-विनाशक है ।

छन्दोबद्ध सार

भोगे हुए सुखों को पाने की जो उठती इच्छाएँ ।
'राग' नाम का क्लेश कही जाती हैं, वे ही तृष्णाएँ ॥

⊛ 'द्वेष' नामक क्लेश का स्वरूप ⊛

दुःखानुशयी द्वेषः ॥8॥

शब्दार्थ—दुःखानुशयी = दुःख की प्रतीति के पीछे रहने वाला क्लेश । द्वेषः = द्वेष है ।

सूत्रार्थ—दुःख की प्रीति के पीछे रहने वाला क्लेश 'द्वेष' है ।

दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति ॥8॥

दुःख भोगने वाले के हृदय में दुःख के स्मरणपूर्वक दुःख या दुःख के

साधनभूत पदार्थ के प्रति जो प्रतिहिंसा, क्रोध, मार डालने की इच्छा या आक्रोश उत्पन्न होता है, वह 'द्वेष' है ।

योगदीपिका

जिन व्यक्तियों या वस्तुओं से व्यक्ति को दु:ख मिलता है, उसके प्रति जो स्मृति अन्त:करण में बनती है, उसके साथ क्रोध, प्रतिहिंसा, आक्रोश, घृणा, वध कर डालने की इच्छा चिपक जाती है । यही भावना 'द्वेष' क्लेश है, क्योंकि इसके उठने पर चित्त विक्षुब्ध होता है और प्रतिहिंसा के भड़कने से भारी अनर्थ की सम्भावना भी उससे जुड़ जाती है । वास्तव में राग और द्वेष दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । दोनों ही साधना मार्ग के अवरोधक है, प्रतिपन्थी हैं । इनसे बचना चाहिए और साधना द्वारा वैराग्य जगाकर इन्हें समाप्त कर देना चाहिए ।

छन्दोबद्ध सार

दुख देने वाले के प्रति जो प्रतिहिंसा जग जाती ।
वही 'द्वेष' कहलाता है, जो घृणा भावना आती ॥

⊛ अभिनिवेश (मरण-भय) का स्वरूप ⊛

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥9॥

शब्दार्थ—स्वरसवाही = परम्परागत स्वभाव से चला आ रहा है । विदुष: अपि = विद्वानों में भी । तथारूढ: = समानरूप से विद्यमान । अभिनिवेश: = मरणभय-सन्त्रास ।

सूत्रार्थ—जो परम्परागत स्वभाव में चला आ रहा है तथा जो मूर्खों और विद्वानों में समान रूप से वर्तमान है, वह मरण भयरूपी 'अभिनिवेश' नामक क्लेश है ।

सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति, 'मा न भूवं भूयासमि'ति । न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः । एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते । स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसम्भावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति । यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि-विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः । कस्मात् समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति ॥9॥

सभी प्राणियों की यह सार्वकालिक कामना होती है कि ऐसा कभी न हो कि मैं संसार में न रहूँ, अपितु मैं सदा रहूँ। मरणधर्म के पूर्व के अनुभव के बिना यह आत्मेच्छा नहीं होती। इसके द्वारा पूर्वजन्म के मरण अनुभव सिद्ध होते हैं। यह 'अभिनिवेश' नामक क्लेश स्वभावत: विद्यमान रहने वाला, पैदा होते ही कीट को भी, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों द्वारा अज्ञात, आत्मनाश की कल्पनारूप मरण का भय पूर्व जन्मों के अनुभूत मरण-दु:ख का अनुमान कराता है। यह मरण भय जैसे अत्यन्त मूर्ख में देखा जाता है, वैसे आदि-अन्त का भेद जानने वाले विद्वान् में भी स्थित देखा जाता है, क्योंकि उन दोनों मे पूर्वजन्म का मरण दु:खानुभव संस्कार रूप में समान रूप से विद्यमान रहता है।

योगदीपिका

यह मरण-भय रूपी क्लेश (अभिनिवेश) सभी प्राणियों में संस्कार रूप मे विद्यमान रहता है; अत: कोई भी प्राणी यह नहीं चाहता कि मैं न रहूँ। एक छोटे से कीट में मरण का भय रहता है और वह भरसक अपनी प्राणरक्षा के उपाय करता है। इससे पूर्वजन्म की सिद्धि होती है। अनुमान से स्पष्ट होता है कि यदि मरण दु:खानुभव उसे पहले न हुआ होता, तो वह भयभीत न होता। यह मरण-भय प्राणियों के अन्त:करण में इतना गहरा बैठा हुआ है कि मूर्ख और विद्वान् दोनों ही समानरूप से मरण-भय से प्रभावित रहते हैं। अन्त:करण मे गहरे प्रवेश के कारण इस क्लेश को 'अभिनिवेश' संज्ञा दी गयी है। साधना द्वारा और गीतादि सद्ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा इस मरण-भय को क्षीण कर समाप्त करना चाहिए, ताकि क्लेश मुक्त योग-साधना आगे बढ़ सके।

छन्दोबद्ध सार

हृदय में गहरा प्रवेश पाये इसी लिए
यह क्लेश 'अभिनिवेश' ऐसा नाम पाये है।
'अभिनिवेश' मरण का भय कहलाये, जो कि
मूर्ख औ विद्वान दोनों को ही डरपाये है।
मरण से भागे क्षुद्र कीट भी सुरक्षा हेतु
पूर्वजन्मसिद्ध मृत्यु भय ही भगाये है।
योगाभ्यास द्वारा क्लेश अभिनिवेश दूर करो
मरण न आये जो कि खड़ा मुहँ बाये है।

❀ अविद्यादि पञ्च क्लेशों के नष्ट होने का समय ❀

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥10॥

शब्दार्थ—ते = वे । सूक्ष्माः = सूक्ष्मावस्था को प्राप्त । प्रतिप्रसवहेयाः = चित्त को अपने कारण में विलीन करने के कार्य द्वारा नष्ट करने योग्य है ।

सूत्रार्थ—वे अविद्यादि पाँचों क्लेश तपः, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान रूप एवं योगाभ्यास रूप क्रियायोग के द्वारा और तत्त्वज्ञान के द्वारा निर्वल बनाने योग्य हैं। तदुपरान्त उनमें भुने हुए बीज की भाँति अंकुरण क्षमता नहीं रह जाएगी और वे निर्मूल हो जायेंगे ।

ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति ॥10॥

क्रियायोग के अभ्यास से दुर्बल बने अविद्यादि पाँचों क्लेश जब 'प्रसंख्यान' रूपी अग्नि से दग्धबीज के समान अंकुरण में अक्षम हो जाते है, तब योगी के कृतकृत्य चित्त के अव्यक्त में लीन होने के साथ वे भी लीन हो जाते हैं ।

योगदीपिका

अविद्यादि पाँचों क्लेशों को क्रियायोग द्वारा क्षीण किया जाता है, जिनसे उनके प्रभाव की तीव्रता कम हो जाती है, किन्तु ये क्लेश पूर्णरूप से नष्ट तभी होते हैं, जब योगाभ्यास द्वारा प्रकृति पुरुष के सम्यक् ज्ञान हो जाने पर, असम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध हो जाने पर, चित्त के अपने कारणरूप अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाने पर पुरुष अपने शुद्ध रूप को पहचान लेता है ।

छन्दोबद्ध सार

योगाभ्यास द्वारा क्षीण होते पाँचों क्लेश, तब
उनका प्रबल बल क्षीण बन जाता है ।
किन्तु तब तक पूर्ण नष्ट होते क्लेश नहीं
जब तक पूर्ण तत्त्व-ज्ञान नहीं आता है ।
जब पहचान जाता पुरुष स्वरूप, तब
प्रकृति की कृति चित्त उसी में समाता है ।
चित्त ही के साथ चित्तवासी क्लेश होते नष्ट
पुरुष का टूट जाता प्रकृति से नाता है ।

स्थितानां तु बीजभावोपगतानाम्—

बीज भाव को प्राप्त, परन्तु नष्ट न हुए (क्लेशों) की स्थिति का कथन—

⊛ सूक्ष्मवृत्तियों के नष्ट करने में कठिनता ⊛

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥11॥

शब्दार्थ—तद् वृत्तयः = उन क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ। ध्यानहेयाः = ध्यान द्वारा नष्ट करने योग्य हैं।

सूत्रार्थ—उन क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ ध्यान द्वारा नष्ट करने योग्य हैं।

क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पा इति। यथा च वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते पश्चात् सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन चापनीयते तथा स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानां, सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति ॥

क्लेशों की जो स्थूल वृत्तियाँ हैं, वे क्रियायोग से क्षीण कर दी जाती हैं फिर प्रसंख्यान नामक 'ध्यान' अर्थात् विवेकख्याति के उदय होने पर नष्ट करने योग्य हो जाती हैं, ताकि वे क्षीण होकर दग्धबीज सदृश हो जायें।

उदाहरण स्वरूप जैसे—वस्त्रों में लगी ऊपरी स्थूल गन्दगी पहले दूर की जाती है और बाद में प्रयत्नपूर्वक उपाय से सूक्ष्म गन्दगी हटायी जाती है, वैसे ही क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ अल्प प्रयत्न द्वारा दूर करने योग्य होती हैं, जब कि सूक्ष्म वृत्तियाँ अधिक प्रयत्न से दूर करने योग्य होती हैं।

योगदीपिका

क्लेश प्रथम अवस्था में व्यवहार काल में प्रबल होते हैं। योगभ्यास द्वारा उन क्लेशों को निर्बल बना देने पर उनका उग्र रूप शान्त होने लगता है, किन्तु मानसिक स्तर पर वे सूक्ष्मता से क्रियाशील होने से सूक्ष्म बन कर रहते हैं। इस स्थिति में उनको हटाना अपेक्षाकृत कठिन होता है। स्थूल वृत्तियों के नियन्त्रण में उतना श्रम नहीं करना पड़ता जितना कि सूक्ष्म वृत्तियों के नियन्त्रण में करना पड़ता है। जैसे वस्त्र के ऊपर पड़ा स्थूल मल अल्प प्रयास से दूर हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट वस्त्र के भीतर के मल को निकालने में अधिक प्रयास करना पड़ता है। स्थूल दोष तो प्रारम्भिक साधना में ही दूर होने लगते हैं, किन्तु सूक्ष्म दोषों को हटाने का क्रम तो सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधिपर्यन्त चलता रहता है। क्लेशों की स्थूल वृत्तियों की नष्ट कर साधक को सूक्ष्म वृत्तियों को अभ्यास-वैराग्य पूर्वक नष्ट करते रहना चाहिए। योग सम्बन्धी ध्यान की निर्दिष्ट क्रियाओं का सतत अभ्यास करते रहना चाहिए।

छन्दोबद्ध सार

ध्यान द्वारा स्थूल वृत्तियाँ विनष्ट होतीं, किन्तु
वे ही सूक्ष्म बनीं यदि चित्त में समाती हैं ।
उनका निकलना कठिन बन जाता तब
सूक्ष्म बनीं चित्त में चिपक जब जाती हैं ।
यौगिक क्रियाएँ यदि चलें दीर्घकाल तक
तब कहीं सूक्ष्म वृत्तियाँ निकल पाती हैं ।
संस्कार बीज दग्ध होने योग्य होते तभी
तत्त्वज्ञान-अग्नि जब दहक जलाती है ।

⊙ क्लेश का कारण - कर्माशय ⊙

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥12॥

शब्दार्थ—क्लेशमूल: = क्लेशमूलक । कर्माशय: = कर्म-संस्कारों का समुदाय । दृष्टादृष्ट = दृष्ट (वर्तमान) अदृष्ट (भविष्य) के । जन्मवेदनीय: = जन्मों में भोगा जाने वाला है ।

सूत्रार्थ—क्लेशमूलक कर्म-संस्कारों का समुदाय वर्तमान जन्म और भविष्य के जन्मों को प्रभावित कर शुभाशुभ, सुख-दु:ख भोगरूप बनकर उतरता है ।

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधप्रसवः । स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च । तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वर-देवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति । तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते । यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः, तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति । तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः । क्षीण-क्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति ॥12॥

पुण्य-पाप कर्माशय काम, क्रोध, लोभ, मोह से उत्पन्न होता है । वह कर्माशय वर्तमान भावी जन्मों में फलदायक होता है । इनमें तीव्र धर्म भावना के साथ तथा मन्त्र, तपस्या और समाधि के द्वारा किया गया अथवा ईश्वर, देवता, महर्षि, महानुभावों की आराधना से सम्पादित वह पुण्य कर्माशय शीघ्र फलदायक होता है । इसी प्रकार तीव्र क्लेश के द्वारा भीत, रुग्ण तथा तरस खाने योग्य प्राणियों के प्रति

या विश्वास करने वाले लोगों के प्रति या तेजस्वी अथवा तपस्वी लोगों के प्रति बार-बार जो अपकार किया गया होता है, वह पाप-कर्माशय भी शीघ्र फलप्रद होता है। जैसे—कुमार नन्दीश्वर मानव शरीर को छोड़कर देवरूप में परिणत हो गये और देवेन्द्र पद को प्राप्त नहुष भी अपने शरीर को छोड़कर तिर्यक् शरीर सर्पयोनि में परिणत हो गये। इस प्रसंग में ज्ञातव्य है कि नारकीयों का कर्माशय वर्तमान जन्म में फल देने वाला नहीं बनता। क्षीण क्लेशों वाले तत्त्ववेत्ता योगियों का कर्माशय भी भावी जन्मों में फल देने वाला नहीं होता है।

योगदीपिका

कर्म-जन्य संस्कारों का समूह 'कर्माशय' कहलाता है। इस कर्माशय में शुभाशुभ, पुण्य-पाप कहे जाने वाले कर्मों के संस्कार का निवास रहता है। कुछ कर्म ऐसे हैं, जिनका फल इसी जन्म में मिलता है और कुछ का भावी जन्मों में मिलता है। कर्म स्वयं अपना फल नहीं दे सकते, क्योंकि अचेतन हैं। कर्मों का फल ईश्वर देता है, राजा देता है, समाज देता है, या पश्चात्ताप या मनोरोग के रूप में कर्त्ता स्वयं कर्मफल ले लेता है। ईश्वर विविध योनियों में भेजकर, राजा दण्ड देकर और समाज उसका बदला देकर दण्ड देता है। कर्मफल में विलम्ब या शीघ्रता भी हो सकती है। आशीर्वाद, उपासना अथवा शाप और अन्य गम्भीर कुकर्मों से पुण्य या पाप के फलों में शीघ्रता या देर हो सकती है। ईश्वरोपासना या आशीर्वाद से पुण्य फल शीघ्र मिल सकते हैं। शाप या गम्भीर कुकर्म से पाप के फल मे द्रुतगामिता आती है। किन्तु कर्मफल को भोगना अवश्य पड़ता है—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'।

छन्दोबद्ध सार

पुण्य-पाप-जन्य संस्कार जहाँ वास करें
　　भाग वही चित्त का 'कर्माशय' कहाता है।
वहीं से निकल वर्तमान, भावी जीवनों में
　　संस्कार शुभाशुभ कर्म-फल लाता है।
फल कुछ कर्मों का तुरन्त मिल जाता, किन्तु
　　मिलने में कुछ में विलम्ब लग जाता है।
बिना फल मिले कर्म क्षीण होने वाले नहीं
　　योगशास्त्र यही सत्य ज्ञान समझाता है।

◎ अविद्यादि क्लेशों के फल ◎

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥13॥

शब्दार्थ—मूले सति = मूल के विद्यमान रहने तक । तद्विपाकः = उसका परिणाम । जाति-आयुर्भोगाः = जाति, आयु और भोग होते हैं ।

सूत्रार्थ—क्लेशों की जड़ जब तक विद्यमान रहती है, तब तक कर्माशयगत पुण्य-पाप के संस्कारों के फलरूप पुनर्जन्म, आयु और भोग का क्रम रुकता नही है ।

सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः । यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति, नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति । स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति । तत्रेदं विचार्यते—किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणमथैकं कर्मानेकं जन्माऽऽक्षिपतीति ? द्वितीया विचारणा—किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्तयत्यथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्तयतीति ? न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम् । कस्मात् ? अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टस्य कर्मणः साम्प्रतिकस्य च फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः । स चानिष्ट इति । न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम् । कस्मात् ? अनेकेषु कर्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः च चाप्यनिष्ट इति । न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम् । कस्मात् ? तदनेकं जन्म युगपन्न सम्भवतीति क्रमेणैव वाच्यम् । तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः ।

तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मिलित्वा मरणं प्रसाध्य सम्मूर्च्छित एकमेव जन्म करोति । तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति । तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यत इति । असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयत इति । अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति । दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात्, द्विविपाकारम्भी वा भोगायुर्हेतुत्वान्नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वेति । क्लेशकर्मविपाकानुभवनिर्वर्तिताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसम्मूर्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः । यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति । ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति । यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च । तत्रादृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपा-

कस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य । कस्मात् ? यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः—कृतस्याविपक्वस्य नाशः प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थामिति । तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य । यत्रेदमुक्तम्—

'द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति । तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते' । प्रधान-कर्मण्यावापगमनम् । यत्रेदमुक्तम्—'स्यात्स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्य-वमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम् कस्मात् ? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रा-यमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यती'ति । नियतविपाकप्रधानकर्म-णाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम् । कथमिति ? अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न त्वदृष्ट-जन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य । यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं वा गच्छेदभिभूतं वा चिरमप्युपासीत, यावत्समानं कर्मा-भिव्यञ्जकं निमित्तमस्य ना विपाकाभिमुखं करोतीति तद्विपाकस्यैव देश-कालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति । न चोत्सर्गस्या-पवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति ॥13॥

क्लेशों के रहने पर ही कर्माशय फल देने वाला होता है । उच्छिन्न क्लेश रूप मूल वाला कर्माशय फलारम्भक नहीं होता है । जिस प्रकार भूसी से संलिप्त अदग्ध तण्डुल उगने में समर्थ होते हैं, ऊपर भूसी से विहीन और दग्ध हुए तण्डुल नहीं, उसी प्रकार क्लेश से आबद्ध कर्माशय ही फलप्रद होता है, क्लेशशून्य या प्रसंख्यान द्वारा दग्धबीज कर्माशय नहीं । मिलने वाला वह फल तीन प्रकार का होता है— जाति, आयु और भोग । कर्मविषयक यह विचार किया जाता है कि क्या एक कर्म एक जन्म का कारण बनता है या अनेक जन्मों को देने वाला होता है ?

द्वितीय विचार यह है कि क्या अनेक कर्म अनेक जन्म देते हैं या अनेक कर्म एक जन्म देते हैं ? एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं हो सकता । क्यों ? अनादि काल से संचित असंख्य अवशिष्ट कर्मों का और वर्तमान काल में कृत कर्मों के फल के क्रम का नियमन न होने से मनुष्यों में कर्म के फल के विषय में अविश्वास होता है और वह अभीष्ट नहीं । और न ही एक कर्म अनेक जन्मों का कारण होता है । क्यों ? अनेक कर्मों में से एक कर्म ही अनेक जन्मों कारण होता है, इस रूप में अवशिष्ट कर्म समुदाय के विपाक काल (फलों को भोगने के अवसर) का अभाव होता है और वह भी अभीष्ट नहीं है । और अनेक कर्म अनेक जन्म का कारण नहीं होता । क्यों ? अनेक जन्म एक साथ सम्भव नहीं है । इसलिए जन्मों को क्रम से कहना चाहिए और इस प्रकार पूर्वोक्त दोष उपस्थित होगा ।

इसलिए सत्य पक्ष यही है कि जन्म-मरण के मध्य में किये गये विचित्र प्रधान एवं गौण भाव से स्थित पुण्यपाप कर्माशय मृत्यु के द्वारा अभिव्यक्त एक समूह के रूप में मिलकर मृत्यु को सम्पन्न करके, एक समुदाय बनकर एक ही जन्म को प्रदान करता है। वह जन्म उसी कर्म के द्वारा प्राप्त आयु वाला होता है। उस आयु मे उसी कर्म द्वारा भोग प्रदान होता है। वह जन्म उसी कर्म द्वारा प्राप्त आयु वाला होता है। उस आयु में उसी कर्म द्वारा भोग प्रदान होता है। वह कर्माशय जन्म, आयु और भोग का कारण होने से तीन विपाक वाला कहा जाता है। इसलिए कर्माशय को एक जन्म को देने वाला कहा गया है।

वर्तमान जन्म में फल देने वाला कर्माशय भोग का हेतु होने से एक फल को देने वाला होता है अथवा भोग आयु देने वाला होने से दो फलों को देने वाला होता है। नन्दीश्वर के समान अथवा नहुष के समान क्लेश एवं कर्म-विपाकानुभवों से निष्पादित वासनाओं के द्वारा प्रवाह रूप में अनादिकाल से सम्बद्ध चित्त सब ओर से चित्रित जैसा मत्स्यजाल-ग्रन्थियों के समान फैला हुआ है। इस प्रकार ये वासनाएँ अनेक जन्मों की हैं। जो यह कर्माशय है, यह ही एक जन्म का (एक जन्म देने वाला) कहा गया है और स्मृति के हेतु जो संस्कार हैं, वे वासनाएँ हैं और वे प्रवाह रूप में अनादि कालीन हैं।

जो वह एक जन्म में सम्पादित संगृहीत कर्माशय है वह निश्चित फल वाला और अनिश्चित फल वाला है। जो यह नियम है कि एक जन्म को देने वाला कर्माशय है, वह अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक अगले जन्म में होने वाला नियत का फल है, अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक अगले जन्म में होने वाले अनियत फल का नहीं है। क्यो ? जो अदृष्टजन्मवेदनीय अनियत फल वाला है, उसकी तीन प्रकार की गतियाँ हैं—1. किये हुए अपक्व का नाश 2. प्रधान कर्म में सम्मिलित होना 3. नियत फल वाले प्रधान कर्म के द्वारा दबकर दीर्घकाल तक रहना।

(1) उनमें से किये हुए अपक्व का नाश—जैसे कि शुक्ल कर्म के उदय से इसी जन्म में कृष्ण कर्म का नाश। जिसके विषय मे कहा गया है—'दो-दो प्रकार के कर्म जानने योग्य हैं। पुण्य-कर्मों का समुदाय पाप-कर्मों के समुदाय को नष्ट करता है, इसीलिए तू इसी जन्म में सुकर्म करने की इच्छा कर, ऐसा विद्वान् लोग तुझे बताते हैं'।

(2) प्रधान कर्म में गौण कर्म के सम्मिलित होने का स्वरूप—जिसके विषय में यह कहा गया है कि 'पाप कर्म का पुण्य कर्म में स्वल्प मिश्रण होगा, वह पाप कर्म निवारण करने एवं सहन करने योग्य होगा, कुशल शुभ कर्म को नीचे दबा पायेगा। क्यों ? मेरा किया हुआ कुशल कर्म और बहुत है, जिसमें सम्मिलित हुआ यह स्वर्ग में भी स्वल्प अपकर्ष करेगा'।

(3) नियत फल वाले प्रधान कर्म से दबकर चिरकाल तक बना रहे—कैसे ? अगले जन्म में नियत फल देने वाले कर्म की एक साथ होने वाली अभिव्यक्ति का कारण मरण कहा गया है। यह मरण अगले जन्म में होने वाले अनिश्चित फल वाले कर्म का उद्बबोधक कारण नहीं कहा गया है।

जो अगले जन्म में अनिश्चित फल देने वाला कर्म है, वह नष्ट हो जाये अथवा प्रधान कर्म से युक्त हो जाये अथवा दबकर दीर्घकाल पर्यन्त बना रहे, जब तक कि उद्बोधक समान कर्म फल देने की ओर अभिमुख नहीं करता और उसके फल के देश, काल, निमित्त का निश्चय न होने के कारण यह कर्मगति विचित्र एवं कठिनता से जानने योग्य है। अपवाद के द्वारा उत्सर्ग सामान्य नियम की निवृत्ति नहीं होती, इसलिए यह कर्माशय एक जन्म को देने वाला स्वीकार किया जाता है।

योगदीपिका

जब तक पूर्वोक्त अविद्यादि क्लेशों की जड़ें विद्यमान हैं, तब तक उस विद्यमानता के परिणामस्वरूप होने वाले पुनर्जन्मों—विविध ऊँची-नीची योनियों में जन्म लेने, वहाँ निश्चित आयु तक जीवित रहने, कर्मानुसार सुख-दुःख भोगने, फिर मरण, फिर जन्म लेने आदि के क्रम बन्द नहीं होंगे। सभी संचित कर्मों को कोई यदि एक ही जन्म में भोग ले तथा नये कर्म संस्कार न पड़ें तो वह मुक्त हो सकता है, पर ऐसा हो नहीं पाता। अविद्या के विद्यमान रहने से नये-नये कर्म संचित होते रहते हैं। कर्मों के परिणामस्वरूप जीव विभिन्न जातियों—मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि योनियों में जन्म लेता, भटकता, कर्म-फल भोगता, एक निश्चित आयु तक जीकर फिर जन्म लेकर कर्म-फल भोगता हुआ आवागमन चक्र में चक्कर काटता रहता है। इसी को 'कर्मविपाक' अथवा 'प्रारब्ध' कहते हैं। जन्म, आयु, प्रारब्ध पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है, किन्तु कर्म पर पूरा अधिकार है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' गीतोक्त वचन प्रमाण है। अस्तु निष्काम कर्मयोग, अभ्यास-वैराग्य और सतत योगसाधना द्वारा साधक प्रसंख्यान (विवेक-ख्याति) प्राप्त कर अविद्या को जड़ से नष्ट कर डाले और पूर्ण क्लेशमुक्त होकर संस्कार बीज को जलाकर उसे अंकुरण में अक्षम बना दे और जीवन्मुक्त हो जाये।

छन्दोबद्ध सार

कर्म में स्वतन्त्र नर, किन्तु कर्म-भोग में न,
अविद्यादि क्लेश जब तक न मिटायेगा।
पशु-पक्षी, कीट औ पतंग योनियों में पड़ा
कर्म-फल भोग आयु नियत बितायेगा।

जब तक जड़ें अविद्यादि की हैं विद्यमान
जन्म-मृत्यु, कर्म-भोग से न मुक्ति पायेगा।
जब तक योग द्वारा सारा कर्म-संस्कार
नष्ट नहीं होगा कष्ट ऐसे ही उठायेगा।

⊛ पाप और पुण्य कर्मों के फल ⊛

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥14॥

शब्दार्थ—ते = वे (जन्म, आयु और भोग)। ह्लाद: = हर्ष। परितापफला: = शोक रूप फल देने वाले होते हैं। पुण्यापुण्यहेतुत्वात् = पुण्य और पाप कर्म कारण होने से।

सूत्रार्थ—वे पूर्वोक्त जन्म या जाति, आयु और भोग सुख-दु:खरूपी फल को देने वाले होते हैं, क्योंकि उनके कारण पुण्य और पाप हैं।

ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला, अपुण्यहेतुकाः दुःखफला इति। यथ चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः ॥14॥

वे जन्म, आयु और भोग पुण्य के कारण होने पर भोग सुखरूपी फल को, किन्तु पाप के कारण होने पर दु:खरूपी फल को देते हैं। जैसे दु:ख का स्वरूप अप्रिय होता है, वैसे ही योगी के लिए विषयसुख भोगकाल में भी अप्रिय लगने वाले दु:ख की विद्यमानता रहती है, ऐसी प्रतिकूलात्मकता सुखोपभोग में भी वह अनुभव करता रहता है।

योगदीपिका

व्यक्ति परोपकार, अहिंसा, सुविचार पूर्वक जो कार्य करता है, वे पुण्य हेतुक हैं। उसके परिणामस्वरूप वर्तमान और भावी जीवन में कर्त्ता को सुखोपभोग रूपी मधुर फल प्रत्येक जन्म में उसके जीवन-काल में मिलते हैं, इसके विपरीत परपीडक, हिंसक, कुविचारी को प्रत्येक जन्म में पापजन्य दु:ख का कटु फलोपभोग मिलता है। मनुष्य होकर भी कहीं अति कष्टमय जीवन बिताते लोग दिखाई देते हैं, तो कहीं कुत्ते जैसी अधम योनि के प्राणी भी कार में चलते, नौकरों-चाकरों की सेवादि और भोजन-शय्यादि का मधुर फल पाते हैं। इसके पीछे पुण्य और पाप कर्म ही होते हैं। परन्तु पुण्य से प्राप्त जाति, सुख-भोग और आयु-भोग से मिलने वाले सुख योगी को आकर्षक नहीं लगते, क्योंकि उनसे एक तो पुण्य क्षीण होता है और दूसरे सुखासक्ति से साधना शिथिल पड़ सकती है। भोग में रोग, संयोग में वियोग, सुख में दु:ख की काली छाया पीछे पड़ी ही रहती है।

छन्दोबद्ध सार

सेवा, सत्य, त्याग, उपकार का विचार लिये
जन शुभ कार्य कर पुण्य जो कमाते हैं।
पाते फल पूर्ण आयु, जाति, कुल, मान, पद
धन-धान्य प्राप्त सुखी जीवन बिताते हैं।
यदि विपरीत निंद्य कर्म हुए जीवन में
पाप बन जाते, कर्त्ता कष्ट कोटि पाते हैं।
साधकों को भोग, रोग शोकप्रद दीखते हैं
भौतिक सुखों में रुचि नहीं दिखलाते हैं।

कथं तदुपपद्यते ?

(भौतिक सुखों में दुःख दोष-दर्शन की दृष्टि) कैसे मानी जाय ?

॥ विवेकी साधक भौतिक सुखों को दुःख रूप मानते हैं ॥

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥15॥

शब्दार्थ—परिणामतापसंस्कारदु:खैः = परिणाम दुःख, ताप दुःख और संस्कार दुःख। च = और। गुणवृत्तिविरोधात् = तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण। विवेकिनः = विवेकियों के लिए। सर्वम् = सभी कर्मफल। दुःखम् एव = दुःख रूप ही है।

सूत्रार्थ—परिणाम दुःख, ताप दुःख और संस्कार दुःख सबमें विद्यमान रहने के कारण और सत्त्वादि तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी साधकों के लिए तो समस्त कर्म-फल—चाहे सुख रूप हों, चाहे दुःख रूप हों, सब-के-सब दुःखरूप ही हैं।

सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः। तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः। तथा चोक्तम्। नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशय इति। विषयसुखञ्चाविद्येत्युक्तम्। या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्। या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्। कस्मात्? यतो भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः

सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति । एषा परिणाम-दुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति । अथ का तापदुःखता ? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति । तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः । सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते । ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति । स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःखतोच्यते । का पुनः संस्कारदुःखता ? सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति ? एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति ।

एवमिदमनादि दुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति । कस्मात् ? अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति । यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति न चान्येषु गात्रावयवेषु । एवमेतानि दुःखान्यक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम् । इतरं तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य एवाहङ्कारममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते । तदेवमनादिदुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति ।

गुणवृत्त्यविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतन्त्रीभूय शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते । 'चलञ्च गुणवृत्तमि'ति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् । रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते । सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते । एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवति । गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति । तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति । तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या । तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः । यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति । एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव । तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति । तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयो संयोगो हेयहेतुः । संयोगस्याऽऽत्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम् । हानोपायः सम्यग्दर्शनम् । तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं वा हेयं वा न भवितुमर्हति । हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः, उपादाने च हेतुवादः । उभयप्रत्याख्याने च शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम् ॥15॥

प्रत्येक का यह सुखानुभव राग से पूर्ण, चेतन-अचेतन साधनों के अधीन है, इसलिए उसमें रागजनित कर्माशय बनता है । उसी प्रकार दुःख साधनों के प्रति द्वेष

करता है और मोहित होता है, इसलिए द्वेष मोहजनित भी कर्माशय है । और ऐसा कहा भी है—प्राणियों को पीड़ित किये बिना उपभोग संभव नहीं होता, इसलिए हिंसा के द्वारा भी सम्पादित शरीर से सम्बद्ध कर्माशय है । विषय-सुख को 'अविद्या' कहा है । भोगों में इन्द्रियों की तृप्ति से जो उपशान्ति होती है, वह सुख है । जो चंचलता से अतृप्ति होती है वह दु:ख है । भोगाभ्यास से इन्द्रियों को तृष्णा रहित करना संभव नहीं है । क्यों ?—क्योंकि भोगाभ्यास से राग बढ़ता है और इन्द्रियो में तद्‌विषयक तीव्रता बढ़ती है । अस्तु, भोग का अभ्यास सुख का उपाय नही है । जो सुखार्थी विषयों की वासना से ग्रस्त होकर दु:ख के महान् पंक में इस प्रकार निमग्न हो जाता है, वह निश्चय ही मानों बिच्छू के विष से डरा हुआ सर्प के विष से डसे हुए के समान दु:ख पाता है । यह अप्रिय स्थिति 'परिणामदु:खता' है, जो सुखावस्था में भी योगी को कष्ट देता है ।

अब ताप-दु:खता क्या है ? सभी का तापानुभव द्वेष युक्त, चेतन और अचेतन साधनों के अधीन होता है । इसी प्रकार उनमें द्वेषज कर्माशय होता है । लोग सुख के साधनों की उपलब्धि हेतु शरीर, मन और वाक्य से चेष्टा करते हैं; दूसरों पर अनुग्रह करते हैं या उन्हें मार कर पीड़ा देते हैं ओर इस प्रकार परानुग्रह और परपीड़ा द्वारा धर्म और अधर्म का संचय करते हैं । यह कर्माशय लोभ और मोह से उत्पन्न होता है । इसे 'तापदु:खता' कहा जाता है ।

संस्कारदु:खता क्या है ? सुखानुभव से 'सुखसंस्काराशय' होता है और दु:खानुभव से 'दु:खसंस्काराशय' अस्तित्व में आता है । ऐसे कर्मो से सुखकर या दु:खकर विपाकों की अनुभूति से पुन: तदनुसार कर्माशय का संचय होता है । इस प्रकार यह अनादि विस्तृत दु:ख स्रोत प्रतिकूल रूप से योगी को ही उद्विग्न करता है । कारण यह है कि विद्वान् का चित्त चक्षुगोलक-सा कोमल होता है । जिस प्रकार नेत्रगोलक में डाला हुआ ऊन का पतला धागा स्पर्श द्वारा दु:खित करता है, किन्तु गात्र के अन्य अवयवों में डाला हुआ वह क्लेशित नहीं करता है, इसी प्रकार ये दु:ख (विषयसुख) योगी को क्लेशित करते हैं, भोगी को नहीं ।

अपने कर्मो से उपार्जित बार-बार प्राप्त दु:ख को छोड़ते हुए ओर छोड़े हुए को ग्रहण करते हुए अन्य व्यक्ति को तो अनादिकालीन वासना से चित्रित, चारों ओर से अविद्या से अनुविद्ध चित्तवृत्ति के द्वारा त्याज्य विषय में अहंकार, ममकार से अनुगत उत्पन्न प्रत्येक बाह्य तथा आध्यात्मिक उभय निमित्तिक तीन पर्वों वाले ताप प्राप्त होते हैं । इस प्रकार समस्त प्राणियों को प्रवाह रूप में अनादि दु:ख-स्रोत से घिरा देखकर योगी समस्त दु:खों को क्षीण करने के उपाय रूपी यथार्थ ज्ञान की शरण लेता है ।

गुण-वृत्ति-विरोध के कारण भी विवेकी के लिए समस्त दु:खमय ही है । ज्ञान, क्रिया, स्थिति स्वभाव वाले बुद्धिगुण पारस्परिक मिलन से शान्त, घोर, मूढ़ नामक

त्रिगुणात्मक अनुभूति को जन्म देते हैं। गुणों का कार्य अस्थिर चल प्रकृतिक है। इस कारण चित्त को शीघ्र परिणाम को प्राप्त होने वाला कहा गया है। रूपातिशय ओर वृत्त्यतिशय परस्पर विरुद्ध हैं। रूप अतिशय—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य। वृत्ति अतिशय—शान्त, घोर (मूढ़)। इनकी सामान्य सत्ता विशेषों के साथ विद्यमान रहती है। इस प्रकार ये गुण एक-दूसरे के आश्रय के द्वारा सुख-दु:ख-मोह की अनुभूति कराने वाले, सर्व स्वरूप वाले होते हैं। ये किसी समय प्रधान और किसी समय उपप्रधान होते हैं। यही इनकी विशेषता है। इसलिए विवेकी के लिए सब दु:ख ही है।

इस महान् दु:ख समुदाय का उत्पत्ति कारण अविद्या है। सम्यग्दर्शन अर्थात् यथार्थ बोध इसको दूर करने का हेतु है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र रोग, रोग-हेतु, आरोग्य तथा भैषज्य नामक चार विभागों वाला है, उसी प्रकार यह योगशास्त्र भी चार विभागों वाला है। जैसे कि संसार, संसार का हेतु, मोक्ष और मोक्ष का उपाय। उनमें से अत्यन्त दु:खमय संसार हेय है, प्रधान-पुरुष का संयोग हेय-हेतु है। संयोग की शाश्वती निवृत्ति हान (मोक्ष) है, सम्यग्दर्शन हानोपाय है। उनमें से हाता (त्याग करने वाले) का स्वरूप न हेय है, न उपादेय। हेय मानने पर उस (जीवात्मा) का उच्छेदवाद (अनित्यत्व) उपस्थित होता है और उपादान मानें तो हेतुवाद का प्रसंग आता है। दोनो वादों को निरस्त करने पर जीवात्मा का शाश्वतवाद अर्थात् नित्यत्व सिद्ध होता है। यही (शास्त्रसम्मत) सम्यग्दर्शन का स्वरूप है।

योगदीपिका

इस सूत्र मे यह बताया गया है कि विवेकी साधक भौतिक सुखों को भी दु:ख रूप क्यों समझता है। भौतिक या सांसारिक सुख चार रूपों में दु:खप्रद होते हैं—
1. परिणाम दु:ख, 2. ताप दु:ख, 3. संस्कार दु:ख, 4. गुणवृत्तिविरोध दु:ख।

(1) परिणाम दु:ख—भौतिक सुखोपभोग से तृप्ति नहीं होती। जैसे अग्नि में घृताहुति उसे तीव्र करती है, वैसे भोग से भोग-कामना और अधिक बढ़ती है—

> न जातु काम: कामानामुपभोगेन शम्यति।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ (मनुस्मृति 2:94)

भोगवासना की वृद्धि से रागजन्य 'कर्माशय' मे वृद्धि होती है। विषयों का भोग पहले क्षणिक सुख देता है और अपने पीछे परिणामस्वरूप क्षीणता, रोग, शोक छोड़ जाता है। जैसे स्त्री-संसर्ग, चटपते स्वादिष्ट भोजन, नशा आदि। यही विषयों का 'परिणाम दु:ख' है।

(2) ताप दु:ख—सुखोपभोग में बाधा डालने वालों के प्रति भोक्ता में द्वेष की भावना जन्म लेती है। जो बाधक तत्त्व हैं उनके नाश में द्वेषपूर्ण प्रयास से जो

कष्ट होता है, वही 'तापदु:ख' है । इससे द्वेषजन्य 'कर्माशय' बनता और पुष्ट होता है ।

(3) संस्कार दु:ख—सुख के अनुभव से सुख-संस्काराशय और दु:खानुभव से दु:ख-संस्काराशय उत्पन्न होते हैं । दृढ़संस्कार अपने ही समान कार्य को बार-बार करने के लिए कर्त्ता को उत्प्रेरित करते रहते हैं । इस प्रकार संस्कारों से कार्य और कार्य से संस्कारों का चक्र चलता रहता है । यह क्रम जन्म-जन्मान्तर तक गतिशील रहता है । जिन वस्तुभोग-संस्कारों की वासना प्रबल हुई रहती है, मन में उन विषय वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा बराबर बनी रहती है और उसके न मिलने पर या यथेष्ट मात्रा में न मिलने पर जो दु:ख होता है, वह 'संस्कार दु:ख' है । संस्कारबद्ध आसक्ति के कारण भोग्य वस्तु के न रह जाने पर अभावजन्य क्लेश का असह्य दु:ख भोक्ता को भोगना पड़ता है । वह उनके लिए रोता-बिलखता हुआ जन्म बिताता है । पुनर्जन्म का भी प्रबल कारण यह संस्कार दु:ख बनता है ।

(4) गुणवृत्तिविरोध दु:ख—गुणों के कार्य का नाम गुणवृत्ति है । सत्त्व, रजस्, तमस्—इन तीनों के कार्यों में परस्पर विरोध है । जैसे सत्त्वगुण का कार्य प्रकाश, ज्ञान और सुख है, तो तमोगुण का कार्य अन्धकार, अज्ञान और दु:ख है । ये गुण एक-दूसरे को दबाकर अपनी प्रबलता दिखाते हैं, ऐसी स्थिति में भोग काल में सुख के प्रति द्विविधात्मक मनोवृत्ति बनी रहती है और दु:ख की काली छाया मंडराती रहती है ।

इसीलिए विवेकी साधक भौतिक सुखों को भी दु:ख रूप ही मानते हैं । यह बात गीता में भी कही गयी है—

> ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते ।
> आद्यन्तवन्त: कौन्तेय, न तेषु रमते बुध: ॥ (गीता 5:22)

छन्दोबद्ध सार

> भौतिक सुखों में चार भाँति दु:ख दोष, जिन्हें
> परिणाम, ताप, संस्कार हैं पुकारते ।
> चौथा दु:ख गुण-वृत्ति का विरोध जाना जाता
> इनको विवेकीजन कभी नहीं धारते ।
> 'कर्माशय' ये ही हैं बनाते भटकाते जाते
> विषयों के प्रति तीव्र तृष्णा हैं उभारते ।
> भोगी जन इन्हें वरदान मान भोगते हैं
> योगी-जन दु:ख दोष रूप हैं निहारते ।

तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते—

वह यह (योग) शास्त्र चार विभागों वाला कहा जाता है—

⊛ भावी पाप-संस्कार नष्ट करने योग्य हैं ⊛

हेयं दुःखमनागतम् ॥16॥

शब्दार्थ—अनागतम् = जो आया नही है, आने वाला है वह । दुःखम् = दुःख । हेयम् = नष्ट करने योग्य है ।

सूत्रार्थ—भविष्य में आने वाला दुःख ही त्याज्य है अर्थात् जो दुःख अभी तक आया नहीं है, उसी को टालने का उपाय किया जा सकता है ।

दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते वर्तमानं च स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत्क्षणान्तरे हेयतामापद्यते तस्माद्यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति, नेतरं प्रतिपत्तारम् । तदेव हेयतामापद्यते ।

अतीत का दुःख झेला जा चुका है, अस्तु त्याज्य कोटि में नहीं आता है । वर्तमानकालिक दुःख वर्तमान के क्षणों में भोगा ही जा रहा है, इस कारण वह अगले क्षण में हेयत्व को प्राप्त नहीं होता । इसलिए जो दुःख अनागत है अर्थात् अभी तक नहीं आया है, वही नेत्रगोलक सदृश कोमल चित्त योगी को क्लेशित करता है, इतर भोक्ताओं को नहीं । अस्तु, वही दुःख त्याज्य है ।

योगदीपिका

वर्तमान जन्म के पहले जो अनेक योनियों में दुःख भोगे जा चुके हैं, वे तो स्वतः भोग द्वारा समाप्त हो चुके हैं; वे अविचारणीय हैं । जो दुःख वर्तमान काल में भोगे जा रहे हैं, वे भी भोग द्वारा नष्ट हो जायेंगे, अस्तु उनके लिए भी उपाय की आवश्यकता नहीं है; किन्तु जिन संचित संस्कारों का फल आगामी जन्मों में भोगा जाने वाला है, उन्हें नष्ट करने की आवश्यकता है, ताकि पुनर्जन्म न हो ।

छन्दोबद्ध सार

कर्म-संस्कार दुःख-दोष का प्रसार कर
नाना योनियों में डाल जीव को दुखाते हैं ।
बीती योनियों में पाप भोग से मिटाये गये
वर्तमान में भी भोग के मिटाये जाते हैं ।
अस्तु, भूत, वर्तमान की न चिन्ता करो अब
भविष्य की चिन्ता करो इसको सुझाते हैं ।

करो यों उपाय भावी पाप-समुदाय सारे
हों विनष्ट, कष्ट मिटे युक्ति बतलाते हैं।

तस्माद्यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते—

इसलिए जो त्याज्य कहा जाता है, उसी के कारण का निर्देश किया जा रहा है—

⊛ मुक्ति हेतु पुरुष-स्वरूप की पहचान ⊛

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥17॥

शब्दार्थ—द्रष्टृदृश्ययोः = द्रष्टा और दृश्य का। संयोगः = मेल। हेयहेतुः = (उक्त) हेय का कारण है।

सूत्रार्थ—द्रष्टा और दृश्य अर्थात् पुरुष और प्रकृति का परस्पर मेल अर्थात् अज्ञान पूर्ण सम्बन्ध जुड़ जाना त्याज्य है, क्योंकि वही दुःख का कारण है।

द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः। दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः। तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः। अनुभवकर्मविषतामापन्नम् अन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकम्। स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्परतन्त्रम्। तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः। तथा चोक्तम्—तत्संयोगहेतुवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। कस्मात्? दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात्। तद्यथा—पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्वं, परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाऽधिष्ठानम्। एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभामाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति। कस्मात्? त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति। अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम्। कस्मात्? तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात्। सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे। दर्शितविषयत्वात्सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽनुतप्यत इति ॥17॥

'द्रष्टा' का अर्थ बुद्धि में व्याप्त दृश्यों को देखने वाला पुरुष है। 'दृश्य' का अर्थ बुद्धि में विद्यमान शब्द-स्पर्शादि समस्त धर्म हैं। वह 'दृश्य' अयस्कान्त मणि (चुम्बक) के समान सामीप्य मात्र से उपकार करने वाला दृश्य होने के कारण द्रष्टारूपी स्वामी पुरुष का अपना धन बन जाता है। (सकल-विषय-धर्माकाराकारित) यह बुद्धि दृश्य बनने के कारण स्वामी पुरुष का 'स्व' या धन है। (क्योंकि दृश्य या बुद्धि) अनुभव तथा कर्म का विषय होकर अन्य स्वरूप में स्वभावतः प्रतिलब्ध

होने से स्वतन्त्र होने पर भी परार्थता के कारण परतन्त्र है । इस दृक् शक्ति और दर्शन शक्ति का अनादि पुरुषार्थ जन्य जो संयोग है, वह हेय हेतु अर्थात् दुःख का कारण है ।

(पंचशिखाचार्य द्वारा) यह भी कहा गया है 'बुद्धि के साथ पुरुष-संयोग के हेतु का विशेष रूप से वर्जन करने पर इससे आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति हो सकती है' । वह कैसे ? दुःख के कारण को हटा देने से दुःख के दूर हो जाने जैसा । जैसे पैर के तलुवे को बिंध जाने से बचाने के लिए काँटो पर पैर न रखना अथवा जूते पहन कर काँटो पर पैर रखना । लोक मे इन तीनों सत्यों को जो जानता है, वह प्रतीकार के उपाय अपनाता हुआ पैरों में कण्टक-चुभनजन्य दुःख को नहीं पाता हैं । क्यों ? भेद्यत्व, भेतृत्व और प्रतीकार इन तीनों को जानने के कारण । यहाँ पर ताप देने वाले रजोगुण का तप्य सत्त्वगुण ही है । क्यों ? तपने की क्रिया के किसी कर्मभूत पदार्थ में होने के कारण कर्मभूत सत्त्वगुण में तपने की क्रिया होती है । अपरिणामी तथा निष्क्रिय क्षेत्रज्ञ (पुरुष) में नहीं । बुद्धि में विद्यमान विषयों को देखने वाला होने से सत्त्व के तप्त होने पर उसके स्वरूप को ग्रहण करने वाला पुरुष अनुतप्त होता है, ऐसा देखा जाता है ।

योगदीपिका

पुरुष औरं प्रकृति दोनों भिन्न तत्त्व हैं । पुरुष चेतन है । वह सहज सुखरूप है । प्रकृति जड़ है और त्रिगुणात्मक है । सत्त्वगुण, रजोगणु एवं तमोगुण वे सूक्ष्म तत्त्व हैं जिनसे संसार की सारी वस्तुएँ व्याप्त हैं । संसार में जो सुख है, वह सत्त्वगुण और जो दुःख है, वह रजोगुण के कारण है और जो मोह, अज्ञान, आलस्य एवं प्रमाद है, वह तमोगुण के कारण है । चिरसाहचर्यवश चेतन तत्त्व पुरुष या आत्मा इन गुणों से आच्छादित स्वरूप को भूल बैठा है और चुम्बक से आकृष्ट लोहे की भाँति प्रकृति की उत्पाद्य बुद्धि तत्त्व जो स्वयं में जड़ है, किन्तु चेतन पुरुष के सान्निध्य से चेतन सदृश स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और प्रकृति के संसर्गवश जो आत्मा जीवात्मा बन जाती है; वही बुद्धि के वशीभूत होकर कार्य करती है और बुद्ध्याश्रित उसके संकेतों पर चलकर सुख-दुःखों का अनुभव करती है । यही अनुभव या भ्रान्ति अज्ञान अथवा अविद्या है । पुरुष और प्रकृति के भिन्नता का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान अथवा विद्या है । इसी विद्या से अमृत तत्त्व मिलता है—'विद्ययामृतमश्नुते' । पुरुष-प्रकृति विषयक बोध हो जाने पर 'मैं केवल पुरुष हूँ', इसकी अनुभूति ही मुक्ति अथवा कैवल्य है । इस प्रकार पुरुष का प्रकृति से अज्ञानपूर्ण संयोग दुःख का कारण है । कारण का निवारण ही कष्ट मिटाने का उपचार है । कारण के निवारण से कार्य का अभाव हो जाता है । जो व्यक्ति जानता है कि काँटे की चुभन कष्टकर है जिससे वह काँटे पर पैर नहीं रखेगा । यदि रखेगा तो पदत्राण (जूते) पहन कर रखेगा । यही

'भेद्यता' 'भेदकत्व' और 'परिहार' सम्बन्धी ज्ञान है । सरल शब्दों में दुःख का ज्ञान, दुःख के कारण का ज्ञान और दुःख के निवारण के ज्ञान का सिद्धान्त है, जिसको व्यवहार में प्रयोग कर कष्ट-मुक्त हुआ जा सकता है । इस प्रकार द्रष्टा पुरुष, दृश्य प्रकृति और उसके उत्पादक शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के यथार्थ को जान कर उनके अज्ञानपूर्ण सम्बन्ध त्याज्य हैं, क्योंकि वे ही दुःख के कारण हैं ।

छन्दोबद्ध सार

प्रकृति है जड़, किन्तु चेतन पुरुष जानो
दोनों भिन्न-भिन्न यही तत्त्व-ज्ञान सार है ।
प्रकृति है दुःख रूप, पुरुष आनन्द रूप,
दोनों विजातीय, पर मित्रता-प्रसार है ।
चिर साहचर्यवश पुरुष स्वरूप भूल
बना है प्रकृतिजन्य शूल का शिकार हैं ।
अस्तु त्याज्य सम्बन्ध का उक्त अनुचितबन्ध
खुल पाता जीव हेतु तभी मुक्ति-द्वार है ।

दृश्यस्वरूपमुच्यते—

'दृश्य' का स्वरूप बताया जा रहा है—

⊛ दृश्य का स्वरूप ⊛

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥18॥

शब्दार्थ—प्रकाशक्रियास्थितिशीलम् = प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है । भूतेन्द्रियात्मकम् = भूत और इन्द्रियाँ जिसका प्रकट स्वरूप हैं । भोगा-पवर्गार्थम् = पुरुष के लिए भुक्ति और मुक्ति का सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है । दृश्यम् = दृश्य है ।

सूत्रार्थ—प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है । भूत और इन्द्रियाँ जिसका प्रकट स्वरूप है और पुरुष के लिए भुक्ति और मुक्ति का सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है, वह 'दृश्य' है ।

प्रकाशशीलं सत्त्वम् । क्रियाशीलं रजः । स्थितिशीलं तम इति । एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः संयोगविभागधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसम्भिन्नशक्तिप्रविभागाः । तुल्यजातीयातुल्य-

जातीयशक्तिभेदानुपातिनः । प्रधानवेलायामुपदर्शितसन्निधाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्णीतानुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्त-सामर्थ्याः सन्निधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पाः । प्रत्ययमन्तरेणैकतम-मस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति । एतद् दृश्यमित्युच्यते । तदेतद् दृश्यं भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते । तथेन्द्रियभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति । तत्तु नाप्रयोजनमपि तु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद् दृश्यं पुरुषस्येति । तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगः । भोक्तुः स्वरूपावधारण-मपवर्ग इति द्वयोरतिरिक्तमन्यद्दर्शनं नास्ति । तथा चोक्तम्—'अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृष्कर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्यु-पनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्न दर्शनमन्यच्छङ्कत इति' । तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति ? यथा च जयः पराजयो वा योद्धषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, स हि तस्य फल-स्य भोक्तेति । एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थावसायो मोक्ष इति । ग्रहणधारणोहापोहतत्त्व-ज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः । स हि तत्फलस्य भोक्तेति ॥18॥

सत्त्वगुण प्रकाशशील, रजोगुण क्रियाशील तथा तमोगुण स्थितिशील है । ये तीनों गुण परस्पर संसृष्ट अंशों वाले, परिणामी संयोग-विभाग रूप धर्म से युक्त हैं और अन्योन्याश्रय द्वारा मूर्त रूप में प्रकट होने वाले हैं । परस्पर अंगांगिभाव से रहने पर भी अपनी-अपनी शक्तियों को पृथक् रखने वाले, समानजातीय एवं असमान जातीय द्रव्यों में शक्ति-भेद से विद्यमान रहने वाले, अपनी प्रधानता काल में अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त करने वाले, गौण होने पर व्यापार मात्र से प्रधान गुण में अन्तर्भावित सत्ता वाले, अनुमान से जानने योग्य, पुरुषार्थ रूपी कर्त्तव्य के कारण प्रयुक्त सामर्थ्य वाले, सन्निधि मात्र से उपकार करने वाले, चुम्बक के समान (धर्मादि) प्रत्यय को अभिव्यक्त न करते हुए किसी एक की वृत्ति का अनुसरण करने वाले प्रधान शब्द के वाच्य होते हैं । इनको ही 'दृश्य' कहा जाता है ।

यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है अर्थात् ये गुण जिस प्रकार भूत भाव या पृथिव्यादि सूक्ष्म-स्थूल रूप में परिणत होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रिय भाव या श्रोत्रादि सूक्ष्म-स्थूल इन्द्रिय रूप में भी परिणत होते हैं । यह 'दृश्य' बिना प्रयोजन के प्रवर्तित नहीं होता है, अपितु प्रयोजन (पुरुषार्थ) वश ही प्रवर्तित होता है । अत: यह दृश्य पदार्थ पुरुष के भोगापवर्ग के लिए ही प्रवर्तित होता है ।

इन दोनों (द्रष्टा और दृश्य) के एकतापन्न भाव में इष्ट तथा अनिष्ट गुणों का स्वरूपावधारण भोग होता है और भोक्ता का स्वरूपावधारण अपवर्ग होता है । इन

दोनों के अतिरिक्त दूसरा दर्शन नहीं है। कहा भी गया है—"तीनों गुणों के कर्त्ता होने पर भी (अविवेकी व्यक्ति) अकर्त्ता, तुल्यातुल्य जातीय, गुण-क्रिया साक्षी रूप जो चतुर्थ पुरुष है, उसमें उपनीयमान सभी धर्मों को उपपन्न जानकर यह आशंका नहीं करते हैं कि इससे पृथक् अन्य कोई दर्शन (चैतन्य) नामक वस्तु है"। (यह पंचशिखाचार्य का वाक्य है।) वे ये दोनों भोगापवर्ग बुद्धिकृत हैं, बुद्धि में ही वर्तमान हैं; अतः वे पुरुष मे किस प्रकार कहे जाते हैं ? जिस प्रकार युद्ध मे जय-पराजय सैनिकों की होने पर भी राजा की कही जाती है और वही उस फल का भोक्ता भी होता है; उसी प्रकार 'बन्ध' और 'मोक्ष' बुद्धि में वर्तमान रहता हुआ भी पुरुष में कथित होता है और पुरुष ही उस फल का भोक्ता भी होता है। बुद्धि के पुरुषार्थ रूपी प्रयोजन का पूरा न हो पाना 'बन्ध' और पूर्ण हो जाना 'मोक्ष' है। इससे सिद्ध हुआ कि ग्रहण (जानना), धारण (धृति), ऊह (स्मृतिगत विषयों का मन में अहन्), अपोह (चिन्तन द्वारा कुछ विषयों का निराकरण), तत्त्वज्ञान (अपोहपूर्वक कुछ विषयों का अवधारण) और अभिनिवेश (तत्त्वज्ञान पूर्वक तदाकारिता भाव)—ये सब गुण बुद्धिनिष्ठ रहते हुए भी पुरुष में अध्यारोपित होते हैं और वह पुरुष उस ग्रहणादिक फल का भोक्ता कहा जाता है।

योगदीपिका

इस सूत्र में 'दृश्य' का स्वरूप बतलाया गया है। 'दृश्य' को स्थूल रूप से 'अव्यक्त प्रकृति' या 'मूल प्रकृति' कहा जा सकता है, जो परमाणु से भी कई गुना सूक्ष्म है और पुरुषतत्त्व या 'आत्मतत्त्व' के अतिरिक्त जो कुछ स्थूलतम या सूक्ष्मतम विस्तार है, वह सब इसकी परिधि में आता है। तीनों गुण सत्त्व, रजस्, तमस् परम सूक्ष्म हैं, जिनसे सृष्टि में भिन्नता है और जिनका गुण-धर्म क्रमशः प्रकाश, क्रियाशीलता (हलचल) तथा जड़ता, आलस्य एवं प्रमाद है; 'दृश्य' के अन्तर्गत हैं। इन त्रिगुणों के जो भी कार्य देखने-सुनने या समझने में आते हैं, वे सब 'दृश्य' के अन्तर्गत हैं। दृश्य की सीमा असीम है।

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी—ये पाँच स्थूल महाभूत; उनके सूक्ष्म रूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि पंचतन्मात्राएँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि, अहंकार—ये सब 'दृश्य' के अन्तर्गत हैं। ये तेईस 'दृश्य' (प्रकृति) के कार्य होने से दृश्य के स्वरूप हैं। सत्त्वादि गुणों से अव्यक्त व्यक्त होता है, अस्तु ये ही 'दृश्य' कहे जा सकते हैं।

भोगासक्त पुरुष को अपना स्वरूप दिखलाकर भोग प्रदान करना और योगासक्त साधक को उसका द्रष्टा स्वरूप दिखलाकर अपने को दृश्य रूप से अलग समझने की स्थिति में लाकर मुक्ति प्रदान करना 'दृश्य' का प्रयोजन है। द्रष्टा को उसका स्वरूप दिखला देने के बाद 'दृश्य' का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है, फिर वह मुक्त

पुरुष की दृष्टि से सदा के लिए लुप्त हो जाता है। इस प्रकार दृश्य (प्रकृति) पुरुष के लिए भुक्ति और मुक्ति दोनों का सम्पादन करता है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और स्थूल-से-स्थूल पदार्थ 'दृश्य' की परिधि में हैं। बन्धन और मोक्ष प्रकृति के अंग बुद्धि का होता है, पुरुष तो नित्यमुक्त है। पुरुष पर यह आरोपित किया जाता है। जैसे हारती या जीतती तो सेना है, लेकिन हार या जीत राजा पर आरोपित की जाती है।

छन्दोबद्ध सार

'दृश्य' और 'द्रष्टा' जिन्हें, 'प्रकृति-पुरुष' कहें
दोनों मिले हुए सारी सृष्टियाँ चलाते हैं।
सत्त्व, रज, तमोगुण वाले 'दृश्य' का स्वरूप
सबसे प्रथम हम यहाँ समझाते हैं।
पुरुष को छोड़ सारी दृश्य औ अदृश्य सृष्टि
दृश्य में समाहित रहस्य बतलाते हैं।
'दृश्य' ही पुरुष को प्रदान करता है भोग
मुक्ति का भी योग यही रचता, सुझाते हैं।

दृश्यानां तु गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते—

दृश्य गुणों के स्वरूप-भेद का बोध कराने हेतु यह सूत्र कहा जा रहा है—

गुणों की अवस्थाएँ

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥19॥

शब्दार्थ—विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि = विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग। गुणपर्वाणि = गुणों की अवस्थाएँ।

सूत्रार्थ—विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग—ये चारों सत्त्वादि गुणों के विभाग या अवस्थाएँ हैं।

तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि। वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि। एकादशं मनः सर्वार्थम्। इत्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः। गुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः। षडविशेषाः। तद्यथा—शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रं चेत्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषा षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः

षडविशेषपरिणामाः । यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते, सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति । प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरस-दव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतियन्तीति । एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामः । निः-सत्ताऽसत्तं चालिङ्गपरिमाण इति । अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुः । ना-लिङ्गावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवति । नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याख्यायते । त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणा-मादौ पुरुषार्थता कारणं भवति । स चार्थो हेतुर्निमित्तं कारणं भवतीत्य-नित्याख्यायते । गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते । व्यक्तिभिरेवातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजननापायधर्म-का इव प्रत्यवभासन्ते । यथा देवदत्तो दरिद्राति । कस्मात् ? यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति । गवामेव मरणात्तस्य दरिद्रता न स्वरूपहानादिति समः समाधिः । लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते क्रमानतिवृत्तेः । तथा षडविशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते । परिणामक्रमनियमात् । तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते । तथा चोक्तं पुरस्तात् । न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्तीति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः । तेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्यायिष्यन्ते ॥19॥

उनमें से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—ये पंचभूत हैं । ये शब्द-तन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र इन अविशेषों के विशेष हैं । इसी प्रकार श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन सर्वार्थ (उभयेन्द्रियार्थ) है । ये सब अस्मिता लक्षण वाले अहंकार नामक अविशेष के विशेष हैं । सोहल का यह समूह गुणों का 'विशेष परिणाम' है ।

छः संख्यक 'अविशेष' है । जैसे कि शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र । ये एक, दो, तीन, चार, पाँच लक्षण वाले शब्दादि पाँच अविशेष हैं, छठा अविशेष 'अस्मितामात्र' है । ये सत्तामात्र महत्तत्त्व के छः अविशेष परिणाम हैं । जो वे अविशेषों से परे लिंगमात्र महत्तत्त्व उस सत्तामात्र महत्तत्त्व में रहकर वृद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त करते हैं । प्रलय को प्राप्त उसी सत्तामात्र महत्तत्त्व में अवस्थित होकर अभिव्यक्ति और अभाव से रहित, अभिव्यक्ति और अभाव से विलक्षण और भावात्मक, अव्यक्त अर्थात् अलिंग प्रधान में लीन हो जाते हैं । यह उन गुणों का लिंगमात्र परिणाम है और निःसत्तासत्त अनभिव्यक्त, भावरूप स्थिति 'अलिंग परिणाम' है । अलिंगावस्था में पुरुषार्थ (भोगापवर्ग) हेतु नहीं है । (क्योंकि) पुरुषार्थता अलिंगावस्था का आदिकारण नहीं है । अतः पुरुषार्थता उसका हेतु भी नहीं है अर्थात् वह पुरुषार्थ कृत नहीं है अतः उसे नित्य कहा जाता है । तीनों अवस्था

विशेषों की उत्पत्ति मे पुरुषार्थता कारण होती है । यह हेतुभूत पुरुषार्थ निमित्त कारण है । अत: उन अवस्था-त्रय को अनित्य कहा जाता है । (सत्त्वादि) गुण तो सर्वधर्मा-नुपाती होते हैं अर्थात् सभी धर्मों में अनुगत हैं । न नष्ट होते हैं, न उत्पन्न होते हैं । अतीत, अनागत और वर्तमानकालिक गुणगत अभिव्यक्तियां द्वारा उत्पन्न और विनष्ट होते जैसे प्रतीत होते है । जैसा कि देवदत्त दरिद्र हो गया है । किसलिए ? क्योंकि उसके गो-वृन्द मरे जा रहे हैं । गो-समूह का मरना ही जैसे देवदत्त की दरिद्रता का कारण होता है, परन्तु स्वरूपहानि उसका कारण नहीं होता है । गुणत्रय के सम्बन्ध मे भी उसी प्रकार का समाधान करणीय है ।

लिंगमात्र अलिंग का निकटवर्ती (कार्य) है । वहाँ (अलिंग में) अविभक्त वह लिगमात्र क्रम का उल्लंघन न करता हुआ पृथक् होता है । उसी प्रकार छ: अविशेष लिगमात्र में अविभक्त रहते हुए, परिणाम के क्रम का उल्लंघन न करते हुए भिन्न रूप को धारण करते हैं । उन अविशेषों में भूत इन्द्रिय-संसृष्ट होते हुए पृथक् होते हैं अर्थात् कार्यावस्था को धारण करते हैं । और ऐसा पहले ही कहा जा चुका है कि विशेष के पश्चात् कोई अन्य तत्त्व नहीं है । विशेषों का तत्त्वान्तर-परिणाम नहीं है; उनके धर्म, लक्षण तथा अवस्था रूप तीन परिणामों की व्याख्या आगे की जायेगी (द्रष्टव्य 3:13) ।

योगदीपिका

इस सूत्र में सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों की विशेष, अविशेष लिङ्गमात्र, अलिङ्ग—ये चार अवस्थाएँ बतायी गयी हैं ।

(1) **विशेष**—गुणों के विशेष धर्मो की अभिव्यक्ति इन्हीं से होती है, इसलिए इनको 'विशेष' कहते हैं । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच स्थूल महाभूत तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन—इस प्रकार सब मिलाकर सोलहों का नाम 'विशेष' है ।

(2) **अविशेष**—इनका रूप इन्द्रियगोचर नहीं है, इसलिए इनको 'अविशेष' कहते हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच तन्मात्राएँ इसमें आती हैं । इन्हीं को सूक्ष्म महाभूत भी कहते हैं । ये सम्बन्धित पदार्थ के परमाणु भी कहे जा सकते हैं । ये स्थूल महाभूतों के सूक्ष्म कारण हैं । छठा तत्त्व अहंकार भी 'अविशेष' कोटि में आता है, जो मन और इन्द्रियों का कारण है ।

(3) **लिङ्गमात्र**—उपर्युक्त बाइस तत्त्वों का कारणभूत जो महत्तत्त्व है, उसका नाम 'लिङ्गमात्र' है । इसकी उपलब्धि सत्तामात्र से होती है, इसी कारण से इसको 'लिङ्गमात्र' कहते हैं । मूल प्रकृति अथवा अव्यक्त की यह प्रथम विकृति या परिणाम है ।

(4) अलिङ्ग—साम्यावस्था को प्राप्त गुणों के स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिए मूल प्रकृति को अलिङ्ग (चिह्न रहित, अव्यक्त) कहते हैं । मूल प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था है, जो प्रलयकाल में रहती है । उपनिषद् और गीता में इसका वर्णन 'अव्यक्त' नाम से किया गया है । देखें—कठोपनिषद् 1:3:11; गीता 13:5 ।

पूर्वोक्त सत्त्वादि तीनों गुणों से जो सृष्टि-विकास का क्रम दिया गया है, उसे सूत्र मे दिये गये क्रम को उलट कर देखें तो अधिक स्पष्ट होगा । सर्वप्रथम गुणो की अलिङ्ग अवस्था वह है, जहाँ प्रकृति के तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं । उस समय प्रकृति की अभिव्यक्ति नहीं होती है, अतएव वह अभिव्यक्ति के चिह्न से रहित होती है । यही अव्यक्तावस्था है । इसीलिए उस अवस्था को अलिङ्ग अथवा अव्यक्त नाम से अभिहित करते हैं । इस अवस्था में अव्यक्त ऊर्जा रहती है । उसका कोई प्रकट रूप नहीं रहता है ।

इसकी दूसरी अवस्था 'लिङ्गमात्र' है । इस प्रकृति के साथ जब चेतन पुरुष तत्त्व का संयोग होता है, तब 'महत्तत्त्व' (चित्त) की उत्पत्ति होती है । यह 'महत्तत्त्व' जड़-चेतन युक्त विकास का प्रथम चरण है । प्रकृति की यह प्रथम सन्तान या कृति है । यही महत्तत्त्व अन्य बाइस तत्त्वों का कारण है । इसी महत्तत्त्व (चित्त) को 'बुद्धि' भी कहते हैं । यह बुद्धि का समष्टि रूप है । इसी से व्यष्टि में बुद्धि वितरित हुई है ।

तीसरी अवस्था में पाँच तन्मात्राओं का विकास हुआ है, जो पंचमहाभूतों के सूक्ष्म परमाणु रूप उनके कारण हैं । ये पंचतन्मात्राएँ सूक्ष्म महाभूत हैं, क्योंकि इन्हीं से स्थूल पंचभूतों (अग्नि, वायु, पृथ्वी आदि) का विकास हुआ है । अहंकार से मन और इन्द्रियों का विकास होता है । इस तीसरी अवस्था को 'अविशेष' कहते हैं, क्योंकि इंन छहों का स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता है ।

चौथी अवस्था को 'विशेष' कहते हैं । इस अवस्था में पाँचों स्थूल महाभूत, पाँच कर्मेन्दियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मन जो ग्यारहवीं सूक्ष्म इन्द्रिय हैं, का विकास होता है । इन सोलहों के समुदाय को 'विशेष' कहते हैं, क्योंकि गुणों के जो-जो धर्म या वैशिष्ट्य हैं, उनकी अभिव्यक्ति इसी से होती है । ये गुणों के प्रकट रूप हैं। ये तीनों गुण इन चारों अवस्थाओं में प्रकट रूप से विद्यमान रहते हैं, इसलिए इन्हें दृश्य प्रकृति कहते हैं । निष्कर्षतः जो कुछ दिखायी देता है, वह प्रकृति की कृति हैं । इस सूत्र के अनुसार सृष्टि का क्रमिक विकास हुआ है, जो पूर्ण वैज्ञानिक है ।

छन्दोबद्ध सार

गुण-साम्यावस्था प्राप्त प्रलय का काल यही
अव्यक्त में लीन जड़-चेतन दिखाता है ।

सम से विषम हुए त्रिगुणों में क्षोभ हुआ
महत्तत्त्व जन्मा जो विकास जन्मदाता है ।
महत्तत्त्व से प्रकट पञ्चतन्मात्र यहीं
पञ्चतन्मात्र पञ्चमहाभूत प्रकटाता है ।
पञ्चमहाभूत से बनीं हैं इन्द्रियाँ समस्त
इसी क्रम में विकास सृष्टि मध्य आता है ।

व्याख्यातं दृश्यम् । अथ द्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते—

'दृश्य' का स्वरूप-बोध कराया जा चुका है, अब 'द्रष्टा के स्वरूप-बोधार्थ यह सूत्र कहा जा रहा है—

⊛ द्रष्टा पुरुष का स्वरूप ⊛

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥20॥

शब्दार्थ—दृशिमात्रः = चेतन मात्र । द्रष्टा = देखने वाला । शुद्धः अपि = सर्वथा शुद्ध, निर्विकार । प्रत्ययानुपश्यः = बुद्धि वृत्ति के अनुसार देखने वाला है ।

सूत्रार्थ—चेतन मात्र ज्ञानस्वरूप आत्मा जो द्रष्टा है, यद्यपि स्वभाव से सर्वथा शुद्ध है, निर्विकार है, तो भी बुद्धिवृत्ति से उससे सम्बन्ध जुड़ जाने से उसी के अनुरूप देखने वाला बन जाता है ।

दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टेत्यर्थः । स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी । स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति । न तावत्सरूपः । कस्मात्? ज्ञाताज्ञातविषयत्वात्परिणामिनी हि बुद्धिः । तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वा ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति । सदाज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति । कस्मात्? न हि बुद्धिश्च नाम पुरुष-विषयश्च स्याद् गृहीता चागृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति । किञ्च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति । तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति । गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति । अतो न सरूपः । अस्तु तर्हि विरूप इति । नात्यन्तं विरूपः । कस्मात्? शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यः । यतः प्रत्ययं बौद्धमनु-पश्यति । तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते । तथा चोक्तम्— 'अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति । तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्र-तया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरि'त्याख्यायते ॥20॥

'दृशिमात्र' का अर्थ विशेषणों से विहीन ज्ञान-शक्ति ही है। यह पुरुष बुद्धि-वृत्ति का ज्ञाता है। वह न तो बुद्धि के समान रूप वाला है और न ही अत्यन्त विरुद्ध रूप वाला है। वह समान रूप वाला नहीं है। क्यों ? विषयों के जानने न जानने वाली होने से बुद्धि परिणाम वाली होती है। बुद्धि का गवादि (चेतन) अथवा घटादि (अचेतन) विषय पृथक् वर्तमान रहते हुए बुद्धि को अनुरक्त कर ज्ञात होते हैं तथा अनुरक्त न कर अज्ञात होते हैं। यह ज्ञाताज्ञात विषयत्व बुद्धि का परिणामित्व प्रमाणित करती है। सदा ज्ञात विषयत्व तो पुरुष के अपरिणामित्व को द्योतित करती है। बुद्धि जो पुरुष का विषय है, वह कभी ज्ञात-अज्ञात नहीं होती है। उससे पुरुष सदा ज्ञात विषय वाला है यह और पुरुष का परिणाम रहित होना सिद्ध है। और क्या हेतु है, इसे बताते हैं। बुद्धि तीनों गुणों का संघातरूप हेकर कार्य करने के कारण परार्थ (पुरुषार्थ) है, जबकि पुरुष स्वार्थ है। उसी प्रकार सब विषयों का ज्ञान कराने वाली होने होने से बुद्धि त्रिगुणमयी है, तीन गुणों से युक्त होने के कारण अचेतन है। पुरुष गुणों को निकटता से जानने वाला है, अत: बुद्धि के सदृशरूप वाला या सजातीय नहीं है। तो फिर (पुरुष को बुद्धि से) विरुद्ध स्वरूप वाला मान लिया जाय ? पूर्णरूप से वह विरुद्ध स्वरूपवाला भी नहीं है। क्यों ? शुद्ध होने पर भी वह बुद्धि-वृत्ति के अनुसार जानता है और तदनुसार देखता है। बुद्धिवृत्तिस्वरूप न होने पर भी तद्वत् प्रतीत होता है (आचार्य पंचशिख द्वारा) कहा भी गया है—भोक्ता परिणामधर्म से रहित है और बुद्धि एवं बुद्धि से सम्बद्ध विषयों में घुलता-मिलता नहीं है। परिणामिनी बुद्धि में घुले-मिले के समान उस (बुद्धिवृत्ति) का अनुकरण करता है। चेतन के सम्बन्ध से चेतना को प्राप्त करने वाली उस बुद्धिवृत्ति का अनुकरण करने के कारण ज्ञानवृत्ति बुद्धिवृत्ति के समान ही कही जाती है। (अथवा चिति के साथ अविशिष्टा बुद्धिवृत्ति ज्ञानवृत्ति के नाम से कथित होती है।)

योगदीपिका

प्रकृति दृश्य है और पुरुष द्रष्टा है। पुरुष अथवा आत्मा को 'दृशिमात्र' कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जीवात्मा चेतन है, जड़ नहीं। आत्मा में ज्ञानगुण स्वभावत: है, किन्तु वह वही देखती है, जो बुद्धि उसे दिखाती है; यही बुद्धि की पराधीनता अविद्या अथवा अज्ञान है। केवल चेतनमात्र जिसका स्वरूप है, ऐसा आत्मतत्त्व स्वरूपत: सर्वथा शुद्ध निर्विकार है, तथापि बुद्धि के चिर साहचर्यवश वह बुद्धि-वृत्ति के अनुसार देखने वाला होने के कारण द्रष्टा कहलाता है। यह अज्ञान अथवा अविद्या साधना द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञान से जब तक नष्ट नहीं होगी, तब तक बुद्धि के साथ एकता को प्राप्त हुआ-सा वह बुद्धि की वृत्तियों के अनुसार दृश्य को देखता रहेगा और भ्रमित हुआ-सा सुख-दु:ख के थपेड़ों को खाता हुआ संसार-समुद्र में डूबता-उतराता रहेगा। जब तक आत्मा स्वयं को बुद्धि-वृत्तियों से पृथक् नहीं मानेगी,

तब तक बुद्धि द्वारा खड़ा किया गया झूठा प्रपंचात्मक बखेड़ा देखकर बुद्धि के निर्णय को सत्य मानकर व्यवहार करेगी और 'मैं और बुद्धि एक हूँ' इस भ्रान्ति से उत्पन्न 'अस्मिता' नामक क्लेश से वह क्लेशित होती रहेगी। तब पुरुष उसी को सत्य मान कर देखता है जिसे बुद्धितत्त्व दिखलाता है।

छन्दोबद्ध सार

ज्ञानरूप चेतनास्वरूप शुद्धबुद्धरूप
चेतन पुरुष निर्विकार कहलाता है।
कहीं क्लेश दोष का भी लेश जिसमें है नहीं
किन्तु जब प्रकृति से नाता जुड़ जाता है।
बुद्धि जो प्रकृति की उपज वह आगे आती
निज जान पुरुष उसी को अपनाता है।
आत्मज्ञान भूल सत्य मान वही देखता है
बुद्धितत्त्व पुरुष को जो भी दिखलाता है।

⊛ प्रकृति ही पुरुष के भोग और अपवर्ग (मुक्ति) का हेतु ⊛

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥21॥

शब्दार्थ—दृश्यस्य = दृश्य रूप प्रकृति का। आत्मा = स्वरूप। तदर्थ: एव = उस (द्रष्टा) के लिए ही है।

सूत्रार्थ—उस द्रष्टा जीवात्मा के भोग और अपवर्ग अर्थात् मुक्ति के लिए ही उस दृश्य का स्वरूप सामने आता है। दृश्य प्रकृति का प्रयोजन द्रष्टा पुरुष के उपयोग हेतु है, उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं है।

दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मरूपतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा भवति ॥21॥

'दृश्य' का समग्र स्वरूप 'द्रष्टा पुरुष' के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन के लिए ही होता है। दृश्य के स्वरूप-लाभ का अन्य कोई प्रयोजन या उपयोग नहीं है।

योगदीपिका

दृश्य प्रकृति का स्वरूप द्रष्टा पुरुष के लिए है, क्योंकि वह जड़ है; न देख सकती है, न स्वयं अपना उपभोग कर सकती है। प्रकृति की सम्पूर्ण कृति पुरुष के लिए है। दृश्य (प्रकृति) द्रष्टा (पुरुष) को भोग प्रदान करती है। साधनातप्त तत्त्वज्ञानी साधक को अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराकर वही उसे अपवर्ग

(मुक्ति) प्रदान करती है। ये दोनों कार्य वह अपनी कार्यशक्ति 'अविद्या' तथा 'विद्या' द्वारा करती है। यही इसका प्रयोजन है।

छन्दोबद्ध सार

प्रकृति है दृश्य और द्रष्टा है पुरुष, दोनों
मध्य जुड़ जाता भोग्य भोक्ता वाला नाता है।
प्रकृति पुरुष को समर्पित हुई है, अस्तु
उसी से पुरुष भुक्ति-मुक्ति दोनों पाता है।
बन के अविद्या कर्मयोग द्वारा बाँधती है
विद्या बनी वही बन जाती मोक्षदाता है।
द्रष्टा को उसी से दुःख-सुख भोग मिलते हैं
उसी द्वारा तत्त्वज्ञान-जन्य मोक्ष आता है।

तत्स्वरूपं तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यत इति। स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तः। न तु विनश्यति। कस्मात् ?

उस 'दृश्य' का स्वरूप अन्य के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखता है। भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ के पूर्ण हो जाने पर वह पुरुष के द्वारा नहीं देखा जाता है। इस अवस्था में स्वरूप-हानि होने से इसके नाश का प्रसङ्ग उपस्थित होता तो है, किन्तु 'दृश्य' नष्ट नहीं होता है। ऐसा क्यों ?

⊛ मात्र मुक्त पुरुषों के लिए प्रकृति प्रभावहीन
होती है, संसारियों के लिए नहीं ⊛

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥22॥

शब्दार्थ—कृतार्थं प्रति = मुक्त पुरुष के प्रति। नष्टम् अपि = नष्ट हुई भी। अनष्टम् = नष्ट नहीं हुई। तत् अन्य साधारणत्वात् = क्योंकि दूसरों के लिए वह समान है।

सूत्रार्थ—मुक्त पुरुष के लिए यह दृश्य (प्रकृति) नष्ट हो जाता है किन्तु वे तमाम पुरुष जो मुक्त नहीं हो सके हैं, उनके लिए यह दृश्यतत्त्व (प्रकृति) पूर्ववत् बना रहता है, विनष्ट नहीं होता है।

कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुष-साधारणत्वात्। कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्यकुशलान् पुरुषान् प्रति न

कृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं, लभत एव पररूपेणात्मरूपमिति । अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति । तथा चोक्तम्—'धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोग' इति ॥22॥

एक कृतार्थ अर्थात् मुक्त पुरुष के प्रति यह दृश्य नामक तत्त्व नष्ट होकर भी अन्यों के लिए अनष्ट अर्थात् विद्यमान या सुरक्षित बना रहता है । वह दृश्य उस मुक्त पुरुष के अतिरिक्त अन्य बद्ध पुरुषों द्वारा धारण किया जाता है । जीवन्मुक्त पुरुषों के लिए नष्ट होकर भी बद्ध पुरुषों के प्रति अभी अस्तित्वपूर्ण बना ही रहता है । इसलिए दृक्-शक्ति पुरुष और दर्शन-शक्ति बुद्धि आदि के प्रवाह से नित्य होने के कारण इनका संयोग अनादि है—ऐसी व्याख्या की गयी है । ऐसा भी कहा गया है कि धर्मियों अर्थात् सत्त्वादि गुणों के पुरुष के साथ अनादि संयोग के कारण बुद्धि आदि धर्मों का संयोग प्रवाह से अनादि होता है ।

योगदीपिका

इस सूत्र में यह बताया गया है कि कृतकृत्य पुरुष अर्थात् मुक्त पुरुष के लिए दृश्य (प्रकृति) नष्ट जैसा होने पर भी उन अन्य पुरुषों के लिए जो मुक्त नहीं हैं, प्रयोजनहीन नहीं होता । वह उनके लिए भोग और बन्धन का कारण बना रहता है । जो साधक योगाभ्यास करते-करते आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, उसके लिए संसार प्रयोजनहीन हो जाता है, किन्तु जो ऐसा नहीं कर पाते, उनके लिए संसार का भोगाकर्षण बना रहता है । मुमुक्षु के लिए मोक्षाकांक्षा भी बनी रहती है । पुरुष अनेक हैं, एक के मुक्त हो जाने पर वह प्रकृति अन्यों के लिए अपना प्रभावी रूप स्थिर रखती है । इस प्रकार दृश्य (प्रकृति) के प्रभाव का सर्वथा अभाव नहीं होता है, क्योंकि वह अनादि है । उसका प्रभाव साधारणों के लिए पूर्ववत् चलता रहता है । सांख्यदर्शन के अनुसार कोई पदार्थ नष्ट नहीं होता है, मात्र उसका तिरोभाव होता है । प्रवाह रूप में सर्व पदार्थ अनादि हैं ।

छन्दोबद्ध सार

साधना से सिद्धि-प्राप्त साधक के हेतु 'दृश्य'
होता है अदृश्य और नष्ट बन जाता है ।
किन्तु इसका न तात्पर्य ऐसा कभी जानो
'दृश्य' सबके लिए समान बना आता है ।
अन्य जो अनन्त हैं पुरुष साधना विहीन
उनके लिए तो 'दृश्य' बन्धन प्रदाता है ।

प्रकृति अनादि बन्ध उससे अनादि जानो
उसका प्रभाव कभी मिट नहीं पाता है ।

संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—

'संयोग' के स्वरूप के कथन हेतु यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है—

❁ प्रकृति और पुरुष के संयोग का कारण ❁

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥23॥

शब्दार्थ—स्वस्वामिशक्त्योः = स्वशक्ति (प्रकृति), स्वामिशक्ति = पुरुष । स्वरूपोपलब्धिहेतुः = स्वरूप की प्राप्ति का हेतु । संयोगः = संयोग है ।

सूत्रार्थ—स्वशक्ति (प्रकृति) और स्वामिशक्ति (पुरुष) के स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही इन दोनों का संयोग हुआ है ।

पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः । तस्माद् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः । या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः । दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम् । दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीत्यदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम् । नात्र दर्शनं मोक्षकारणम् । अदर्शनाभावादेव बन्धाभावः, स मोक्ष इति । दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनज्ञानं कैवल्यकारणमुक्तम् । किञ्चेदमदर्शनं नाम ? किं गुणानामधिकारः ? आहोस्विद् दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्यानुत्पादः ? स्वस्मिन् दृश्ये विद्यमाने यो दर्शनाभावः । किमर्थवत्ता गुणानाम् ? अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम् ? किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः ? यत्रेदमुक्तं—प्रधानं स्थित्यैव वर्त्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात् । तथा गत्यैव वर्त्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात् । उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा । कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेव समानश्चर्चः ।

दर्शनशक्तिरेवादर्शनमित्येके । 'प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिरि'ति—श्रुतेः । सर्वबोध्यबोधसमर्थः प्राक् प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति । सर्वकार्यकरणसमर्थं दृश्यं तदा न दृश्यत इति । उभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके । तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययापेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति । तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनेवादर्शनमवभासते । दर्शनज्ञानमेवादर्शनमिति केचिदभिदधति । इत्येते शास्त्रगता विकल्पाः । तत्र विकल्पबहुत्वमेतत्सर्वपुरुषाणां गुणानां संयोगे साधारणविषयम् ॥23॥

स्वामी पुरुष दर्शन (तत्त्वज्ञान) के लिए दृश्य रूपी स्व से संयुक्त होता है। उस संयोग से दृश्य की जो उपलब्धि है तथा वह भोग है तथा जो द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि है, वह अपवर्ग है। संयोग दर्शन कार्यावसान है अर्थात् विवेक द्वारा दर्शनकार्य की परिसमाप्ति होने पर संयोग का भी अवसान हो जाता है अर्थात् जब तक दर्शन रहता है, तब तक संयोग भी रहता है। अत: उस दर्शन (विवेक) को वियोग का कारण कहा गया है। दर्शन अदर्शन का प्रतिद्वन्द्वी होता है। अदर्शन को संयोग का निमित्त कहा गया है, परन्तु यहाँ दर्शन मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है। अदर्शनाभाव से ही बन्धनाभाव होता है; यही मोक्ष है। दर्शन से बन्ध कारण अदर्शन का नाश होता है। इसलिए दर्शन अर्थात् ज्ञान को कैवल्य का कारण कहा गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह अदर्शन क्या है ?

(1) क्या सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों का अधिकार (कार्योत्पादन सामर्थ्य) है ?

(2) अथवा द्रष्टा स्वामी (पुरुष) के प्रतिशब्दादि विषयों को दिखाने वाले प्रधान चित्त का प्रकट न हो पाना अदर्शन है ?

(3) क्या गुणों की अर्थवत्ता अर्थात् भोगापवर्ग के सम्पादन में प्रवृत्त रहना अदर्शन है ?

(4) अथवा स्वचित्त के साथ (प्रलयकाल में) निरुद्ध एवं (सर्गकाल) बने चित्त की अभिव्यक्ति का कारण जो अविद्या है, वही अदर्शन है।

(5) अथवा क्या स्थिति-संस्कार के क्षय के पश्चात् गति-संस्कार की अभिव्यक्ति अदर्शन है ? इस विषय पर कथन है—'प्रधान' स्थिति में ही विद्यमान रहने पर विकार न करने के कारण अप्रधान होगा; स्थिति तथा गति इन दोनों प्रकारों से इसकी प्रवृत्ति रहने पर ही इसे 'प्रधान' नाम से सम्बोधित किया जायेगा अन्यथा नहीं। अन्यान्य कारणों की परिकल्पना में भी यही तथ्य मान्य होगा। (अर्थात् परमाणु से सृष्टि मानने पर भी यही स्थिति रहेगी)।

(6) कुछ का मत है कि दर्शनशक्ति (बुद्धि) ही अदर्शन है। 'प्रधान' की प्रवृत्ति स्वयं को प्रकाशित अथवा प्रकट करने की है। यह श्रुति मत ही उनका प्रमाण है। इसलिए कि समस्त ज्ञेयों के ज्ञान में समर्थ पुरुष प्रधान (बुद्धि) की प्रवृत्ति के पूर्व कुछ नहीं देखता है। समस्त कार्यों को करने में सक्षम दृश्य (प्रकृति) तब (बुद्धि की प्रवृत्ति से पूर्व) नहीं दिखाई देता।

(7) कुछ का मत है कि अदर्शन द्रष्टा और दृश्य इन दोनों का ही धर्म है। इन दोनों में से अदर्शन दृश्य का निजी धर्म होने पर भी पुरुष ज्ञान की अपेक्षा से (पुरुषाधीन होने के कारण) ही दृश्य धर्म के रूप में होता है। इसी प्रकार अदर्शन पुरुष का निजी धर्म न होने पर भी दृश्य ज्ञान की अपेक्षा से दृश्य (बुद्धि वृत्ति के ज्ञान की अपेक्षा के कारण) पुरुष धर्म रूप से प्रतीत होता है।

(8) कुछ का अभिमत है कि दर्शन अर्थात् ज्ञान ही अदर्शन है ।

अदर्शन के विषय में शास्त्र-चर्चित ये आठ विकल्प हैं । उन बहुत से विकल्पों में से (चौथे के अतिरिक्त) अन्य सभी पुरुषों के अर्थात् पुरुषों की समष्टि के गुणत्रय के साथ होने वाले संयोग से सम्बन्धित हैं और समान मत वाले हैं ।

योगदीपिका

इस सूत्र में संयोग अर्थात् प्रकृति और पुरुष के सम्मिलन के स्वरूप को बताया गया है । प्रकृति पुरुष के संयोग से ही सृष्टि गतिशील है । इस संयोग के दो प्रयोजन हैं—1. भोग, 2. अपवर्ग (मुक्ति) ।

(1) दृश्य अथवा प्रकृति का भोगपरक जो भौतिक ज्ञान के क्षेत्र का संयोग है, वह बन्धनपरक है । पुरुष ने बुद्धि के संयोग से प्रकृति के रहस्य-ज्ञान से विभिन्न चामत्कारिक भोगप्रद वैज्ञानिक आविष्कार किये । भौतिक स्तर पर तो संसार पर उसका एकक्षत्र अधिकार हो गया है, किन्तु मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में वह इन आविष्कारों से पिछड़ता गया और अशान्ति, असन्तोष और विनाश ही नहीं बल्कि महाविनाश के कगार पर खड़ा हो गया है । अणु बम प्रकृति की आणविक शक्ति का परिज्ञान है, जो परम संहारक है ।

(2) प्रकृति-पुरुष का संयोग जब द्रष्टा के स्वरूप-ज्ञान के लिए होता है, तब वह मोक्षप्रद होता है, जो वरणीय है । यह ज्ञान की आध्यात्मिक प्रवृत्ति है । व्यासभाष्य में दर्शन (ज्ञान) अदर्शन (अज्ञान) के स्वरूप पर दूर तक प्रकाश डाला गया है । एतद् विषयक आठ मान्यताओं की चर्चा है, जिनमें से चौथी मान्यता 'अविद्या' को 'दर्शन' के विपरीत अर्थात् अदर्शन (अज्ञान) के प्रसंग में विशिष्ट मान्यता दी गयी है । अगले सूत्र में उसी अविद्या को प्रकृति-पुरुष के संयोग के हेतु रूप में प्रस्तुत किया गया है । निष्कर्षतः पुरुष का प्रकृति के साथ संयोग उन दोनों के स्वरूप को जानने के लिए ही है, अस्तु उस दर्शन (ज्ञान) शक्ति द्वारा जब तक मनुष्य इस प्रकृति के नाना रूपों को देखता रहता है, तब तक सांसारिक भोगों को भोगता रहता है । जब इनके दर्शन से विरक्त होकर अपने स्वरूप दर्शन की ओर उन्मुख होता है, तब उसे आत्मज्ञान हो जाता है, तब संयोग की आवश्यकता का अभाव हो जाता है । यही पुरुष की 'कैवल्य' अवस्था है; जहाँ प्रकृति और पुरुष का भोग्य-भोक्ता भाव सम्बन्ध या संयोग पूर्णतया समाप्त हो जाता है ।

छन्दोबद्ध सार

प्रकृति पुरुष का संयोग किस हेतु होता
यह तथ्य यहाँ पर बढ़के बताते हैं ।

भोग और योग दोनों दर्शन के परिणाम
संयोग से दोनों लाभ मिलना सुझाते हैं ।
प्रकृति के दर्शन के प्रति दृष्टि भौतिक जो
वह भोग रोगप्रद इसे समझाते हैं ।
स्वरूप के ज्ञान हेतु दर्शन जो क्रियाशील
तब मोक्ष मिलता है, बन्ध छूट जाते हैं ।

यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः—

प्रत्येक चेतन अर्थात् जीव या बद्ध पुरुष का जो अपनी बुद्धि के साथ संयोग होता है—

⊛ पुरुष के बन्धन का कारण - अविद्या ⊛

तस्य हेतुरविद्या ॥24॥

शब्दार्थ—तस्य = उस संयोग का । हेतु = कारण । अविद्या = अविद्या है ।

सूत्रार्थ—चेतन पुरुष और जड़ प्रकृति के संयोग का कारण अविद्या है ।

विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः । विपर्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति । साधिकारा पुनरावर्त्तते । सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसानां कार्यनिष्ठां प्राप्नोति । चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्त्तते । अत्र कश्चित् षण्डकोपाख्यानेनोद्घाटयति—

'मुग्धया भार्ययाभिधीयते षण्डकः—आर्यपुत्र ! अपत्यवती मे भगिनी किमर्थं नाहमिति' ? स तामाह—'मृतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामी'ति । तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिं न करोति विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा ? तत्राचार्यदेशीयो वक्ति—'ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षः । अदर्शनकारणाभावाद् बुद्धिनिवृत्तिः । तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्त्तते । तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः । किमर्थमस्थान एवास्य मतिविभ्रमः ॥24॥

अविद्या का अभिप्राय मिथ्या ज्ञान की वासना है । मिथ्या-ज्ञान की वासना से आच्छादित बुद्धि विवेकख्याति रूप कार्य की परिसमाप्ति को प्राप्त नहीं होती । अधिकार अर्थात् पुरुष के हेतु भोगापवर्ग विधान करने की सामर्थ्य के कारण पुनः भोगापवर्ग हेतु प्रवृत्त होती है और वह बुद्धि विवेकख्याति पर्यन्त रहने वाली होने के कारण कार्य को परिपूर्ण कर लेती है । तब समाप्ताधिकार अर्थात् कार्य को परिपूर्ण कर चुके होने से मिथ्याज्ञान से मुक्त हुई बन्धन के कारण के अभाववश पुनः प्रवृत्त नहीं होती । इस प्रसंग में कोई नास्तिक 'षण्डकोपाख्यान' द्वारा उपहास करता हुआ आक्षेप करता है—

एक नपुंसक की मुग्धा पत्नी उससे कहती है—'आर्यपुत्र, मेरी बहन सन्तान वाली है, मैं क्यों नहीं हूँ ?' नपुंसक ने पत्नी से कहा—'मरणोपरान्त आकर मैं सन्तान उत्पन्न करूँगा'। इसी प्रकार यह विद्यमान विवेक ज्ञान चित्त की निवृत्ति यदि नहीं कर पाता, तब विनष्ट होकर चित्त-निवृत्ति की क्रिया करेगा, यह आशा कैसे की जा सकती है ?

कोई आचार्य कल्पसुधी समाधान करता है कि 'बुद्धिनिवृत्ति ही मोक्ष है'। अदर्शनरूपी कारण का अभाव होने पर बुद्धि-निवृत्ति होती है और वह अदर्शन बन्ध का कारण है। वह बन्ध दर्शन (ज्ञान) से निवृत्त होता है। निष्कर्षत: चित्त-निवृत्ति ही मोक्ष है; अत: उक्त विपक्षवादी का अनवसर मति-विभ्रम व्यर्थ है।

योगदीपिका

इस सूत्र में जड़-प्रकृति से चेतन पुरुष के संयोग का कारण 'अविद्या' को बताया गया है। सूत्रकार ने योगदर्शन 2:5 में अविद्या के स्वरूप को बताते हुए कहा है कि अनित्य को नित्य, अशुद्ध को शुद्ध, दु:ख को सुख, अनात्मा को आत्मा मान लेना 'अविद्या' है। अविद्या अज्ञान या उल्टी समझ है। यह उल्टी समझ या मिथ्या ज्ञान विवेकख्याति या तत्त्व ज्ञान या यथार्थ ज्ञान को नहीं होने देता। जब यथार्थ ज्ञान हो जाता है तो अविद्यावाहक चित्त मर जाता है, विद्या की उत्पत्ति होती है। विद्या के द्वारा साधक को स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि यह समस्त सृष्टि प्रकृति की रचना है। पुरुष उससे भिन्न चेतन आत्मा है। प्रकृति और पुरुष की भिन्नता का बोध ही मोक्ष है। यह विद्या सत्त्वगुण की पराकाष्ठा है। सत्त्वगुण भी प्रकृति का ही अंग है। इस स्थिति से भी आगे बढ़कर जब साधक गुणातीत हो जाता है, तब परवैराग्य का उदय होता है। परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि आती है। यहाँ चित्त पूर्ण निवृत्त होता है। इस पर किसी प्रतिपक्षी नास्तिक ने भाष्य में चर्चित नपुंसक पति और मुग्धा स्त्री के वार्तालाय के उदाहरण के माध्यम से तत्त्वज्ञान के पूर्वोक्त प्रतिपादन पर चुटकी ली। भाष्यकार ने उस चुटकी को मतिविभ्रम कहकर सांख्याचार्य के सिद्धान्त को सत्य बताया कि 'चित्तनिवृत्ति ही मोक्ष है'।

छन्दोबद्ध सार

प्रकृति पुरुष भिन्न दोनों सजातीय नहीं
एक जड़ और एक चेतन महान् है।
चिरसाहचर्यवश चेतन पुरुष यह
निज को प्रकृति का ही अंश लेता मान है।
यही है अविद्या जो मिलाती जाती दोनों को यों
भूल जाता पुरुष स्वरूप पहचान है।

अज्ञान मिटाओ, निज रूप पहचान जाओ
यही पहचान मुक्ति करती प्रदान है ।

हेयं दुःखम् । हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम् । अतः परं हानं वक्तव्यम् ।

हेय दु:ख, हेय का कारण संयोग तथा संयोग का कारण—ये सब कह दिये गये हैं । अब हान (हेय का नाश) कहा जाना चाहिए ।

⊛ अविद्या-नाश से 'हान' की प्राप्ति ⊛

तदभावात् संयोगाभावो हानं, तद् दृशेः कैवल्यम् ॥25॥

शब्दार्थ—तद् अभावत् = उस (अविद्या) के अभाव से । संयोगाभाव: = संयोग का अभाव । हानं = दु:खों से मुक्ति । तत् = वही । दृशे: = द्रष्टा का । कैवल्यम् = कैवल्य है ।

सूत्रार्थ—उस पूर्वोक्त अविद्या के मिट जाने से द्रष्टा और दृश्य के अर्थात् पुरुष और प्रकृति के संयोग का अभाव हो जाता है । यही अभाव 'हान' है अर्थात् दु:खों से छुटकारा ही जीवात्मा का कैवल्य है ।

तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः । एतद्धानम् । तद् दृशेः कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः । दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानम् । तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम् ॥25॥

उस अविद्या के नाश से बुद्धि और पुरुष के संयोग का नाश हो जाता है अर्थात् सांसारिक बन्धन से पूर्ण निवृत्ति हो जाती है । यही पूर्ण निवृत्ति 'हान' है । यही द्रष्टा पुरुष का 'कैवल्य' है, बुद्धि से पूर्ण विलगाव है या त्रिगुणों के साथ पुन: संयोग न होना है । दु:ख के कारण की निवृत्ति हो जाने पर दु:ख की निवृत्ति हो जाना 'हान' है । उस समय पुरुष स्व-रूप में प्रतिष्ठित होता है, ऐसा कहा गया है ।

योगदीपिका

पुरुष तथा प्रकृति का जो संयोग अविद्या के कारण हुआ था, योगाभ्यास द्वारा आत्मज्ञान हो जाने पर उसका अभाव हो जाता है । सांसारिक दु:खों—जरा-व्याधि, जन्म-मरण, दोष-दारिद्र्य का सर्वथा नाश हो जाता है । अविद्या दु:खों का कारण है । कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का भी नाश हो जाता है—'कारणाभावात् कार्याभाव:' (वैशेषिकदर्शन 1:2:1) । दु:ख-द्वद्वों, जन्म-मरण, आधि-व्याधि से पूर्ण

छुटकारा 'हान' है । इस हानावस्था में पुरुष स्व-रूप में स्थित मात्र पुरुष या आत्मतत्त्व रह जाता है और यही चेतन आत्मा का 'कैवल्य' माया मुक्त शुद्ध स्वरूप है ।

छन्दोबद्ध सार

प्रकृति-पुरुष का रहा जो चिर साहचर्य
वही क्लेश लेश दु:ख-दोष उपजाये था ।
भटकाया विवश बनाया-सा पुरुष दिव्य
शुद्ध बुद्ध चेतन स्वरूप को भुलाये था ।
दुखद अविद्या-नाश हुआ योगाभ्यास से तो
नष्ट हुआ कष्ट जो कि चारों ओर छाये था ।
'हानावस्था' प्राप्त जीव कैवल्य से युक्त हुआ
जिसके कि हेतु चिरसाधना जगाये था ।

अथ हानस्य कः प्राप्त्युपायः ? इति—

अब 'हान' (दु:खों से मुक्ति) का क्या उपाय है ? (इसको बताते हैं)—

⊛ 'हान' प्राप्ति का उपाय ⊛

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥26॥

शब्दार्थ—अविप्लवा = निश्चल और निर्दोष । विवेकख्याति: = विवेक ज्ञान । हानोपाय: = 'हान' का उपाय है ।

सूत्रार्थ—निश्चल और निर्दोष विवेक 'हान' की साधना की अवस्था विशेष की प्राप्ति का उपाय है ।

सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः । सा त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञाना प्लवते । यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभागं वन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते, तदा विधूत-क्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्त्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति । सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानस्यो-पायः । ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमः । पुनश्चाप्रसव इत्येष मोक्ष-स्य मार्गो हानस्योपाय इति ॥26॥

सत्त्व बुद्धि और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान 'विवेकख्याति' है । वह मिथ्याज्ञान से पूर्णतया रहित न होने पर खण्डित हो जाती है । जब मिथ्या ज्ञान दग्धबीज होकर

संस्कार के अंकुरण में सक्षम नहीं रह जाता है, तब क्लेशों एवं रजोगुण से रहित बुद्धि के वैशारद्य एवं परवशीकार अनुभूति में स्थित होने पर विवेक ज्ञान का प्रवाह निर्मल होता है । वह अखण्डित विवेकख्याति हान (मोक्ष) का उपाय है । उससे मिथ्याज्ञान की दग्धबीजावस्था हो जाती है, जिससे मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति फिर नहीं होती है । यही मोक्ष का मार्ग अर्थात् 'हान' का उपाय है ।

योगदीपिका

इस सूत्र में अडिग तत्त्वज्ञान, जिसे 'विवेकख्याति' की संज्ञा दी गयी है, को मोक्ष का उपाय बताया गया है । शरीर और उसके अंगभूत मन, बुद्धि, चित्त, अंहकार आदि के द्वारा प्रकृति पुरुष के बन्धन का हेतु बनती है । पुरुष अविद्यावश उसे अपना मानकर तदनुसार कार्य करता है, फलस्वरूप जन्म-मरण का चक्र सतत गतिमान रहता है और विविध कष्टों का सिलसिला बन्द नहीं होता । साधक साधना की परिपक्वावस्था में पूर्ण तत्त्वज्ञान, विवेकख्याति के माध्यम से धीरे-धीरे अभ्यास और वैराग्य के द्वारा निर्मल बनकर समाधि की स्थिरता से विवेकज्ञान को निश्चल और निर्दोष बनाकर सर्वथा दोषरहित हो जाता है । इस स्थिति में अविद्यादि क्लेश दूर हो जाते हैं और समस्त संस्कार दग्धबीजत्व को प्राप्त होकर पूर्ण निष्क्रिय होकर विलुप्त हो जाते हैं । 'हान' संज्ञक साधना-भूमि पाने के लिए निरन्तरता से बनी रहने वाली अचल विवेकख्याति की आवश्यकता है । इसीलिए 'अविप्लवा' विशेषण का प्रयोग किया गया है । यह अचलता दीर्घकालिक अभ्यास के बाद आती है, जब सूक्ष्म संस्कार भी अस्तित्व में नहीं रह जाते हैं । अचल, विशुद्ध चेतन आत्मस्वरूप ही हानावस्था प्राप्ति का उपाय है ।

छन्दोबद्ध सार

दीर्घकाल वाली योग-साधना के बाद जब
जल जाता सारा संस्कार समुदाय है ।
अटल अबाधित विवेकख्याति आती तब
मिथ्याज्ञान सारा बन जाता असहाय है ।
चित्तवृत्तियों समेत चित्त निज कारण में
प्रकृति में लीन होता बना निरुपाय है ।
मिथ्या ज्ञान शून्य यही अविचल तत्त्वज्ञान
कैवल्य प्रदाता 'हान' पाने का उपाय है ।

❀ विवेक ज्ञान-प्राप्त साधक की सात उत्कर्षपूर्ण प्रज्ञावस्थाएँ ❀

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥27॥

शब्दार्थ—तस्य =उसकी (विवेक ज्ञान प्राप्त पुरुष की) । सप्तधा = सात प्रकार की । प्रान्तभूमिः = अन्तिम स्थिति वाली । प्रज्ञा = बुद्धि ।

सूत्रार्थ—उस विवेकख्याति प्राप्त योगी की सात प्रकार की उत्कृष्ट अवस्था वाली बुद्धि होती है ।

तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः । सप्तधेत्यशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति । तद्यथा—(1) परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति । (2) क्षीणाः हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति । (3) साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम् । (4) भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपाय इति । एषा चतुष्टयी कार्यविमुक्तिः प्रज्ञायाः । चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी । (5) चरिताधिकारा बुद्धिः । (6) गुणा गिरिशिखरकूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति । न चैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति । (7) एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति । एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन् पुरुषः कुशल इत्याख्यायते । प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वादिति ॥27॥

सूत्र में 'तस्य' (उसकी) इस सर्वनाम शब्द के द्वारा 'विवेकख्याति' प्राप्त योगी को लक्षित किया गया है । सप्तधा (सात प्रकार) कहने का तात्पर्य यह है कि चित्त से अशुद्धि रूप आवरण मल के मिट जाने से चित्त में अन्य प्रकार के ज्ञान के उत्पन्न न होने पर विवेकी में सात प्रकार की प्रज्ञा होती है, जो प्रकार है—

(1) हेय (त्याज्य) परिज्ञात हो चुके हैं और इस विषय में फिर कुछ परिज्ञेय नहीं है । (2) हेय के हेतु क्लेश क्षीण हो चुके हैं, अब उनमें क्षय होने योग्य कुछ नहीं है । (3) निरोध समाधि के द्वारा 'हान' (मोक्ष) साक्षात्कृत हो चुका है । (4) विवेकख्याति रूप हानोपाय भावित हो चुका है । प्रज्ञा की यह चार प्रकार की कार्य-विमुक्ति है और उसकी चित्त-विमुक्ति तीन प्रकार की है । (5) बुद्धि चरिताधिकारा (चरितार्थ) हो चुकी है । (6) सत्त्वादि समस्त गुण गिरिशिखर-च्युत पाषाणखण्ड के समान निरवस्थान होकर स्वकारण में प्रलयाभिमुख हुए हैं एवं उस कारण के साथ विलीन हो रहे हैं । उन विलीन गुणों का पुनः प्रयोजन न रहने के कारण पुनरुत्पत्ति नहीं होगी । (7) इस अवस्था में (सप्तम भूमि में) पुरुष त्रिगुणातीत, स्वरूपमात्र ज्योति में अवस्थित, अमल तथा केवली होते हैं । इन सप्त प्रान्त-भूमि प्रज्ञाओं का

अनुदर्शन कर लेने पर पुरुष को 'कुशल' कहा जाता है। चित्त के प्रविलीन होने पर भी उसे मुक्त, कुशल कहा जाता है, क्योंकि उस समय पुरुष गुणातीत हो जाता है।

योगदीपिका

इस सूत्र में विवेकख्याति प्राप्त योगी की उच्चस्तरीय सात प्रकार की बुद्धि-भूमियाँ बतायी गयी हैं—

(1) जो कुछ जानना था जान लिया है; अब जानने को कुछ शेष नहीं रहा है। यह त्रिगुणात्मक प्रकृति ही समस्त दुःखों का कारण है। इसके कार्य अनित्य तथा परिणामी हैं, इसका ज्ञान हो गया है।

(2) अविद्या के कारण प्रकृति का आत्मा के साथ जो संयोग हो गया था, उस संयोग का अभाव हो गया है। इस प्रकार दुःखों के कारणों के अन्त हो जाने के साथ पुनर्जन्म आदि दुःखों का भी अन्त हो गया है।

(3) प्रकृति का अभाव हो जाने से, जो प्राप्त करना था वह कर लिया है। आत्मस्वरूप में स्थिति होने से कैवल्य की उपलब्धि हो गयी है और अब कुछ पाने को शेष नहीं रह गया है।

(4) जो कुछ करना था कर लिया। दुःखों के अन्त का जो उपाय, जो विवेक-ज्ञान है, उसे सिद्ध कर लिया है। अब कुछ करना शेष नहीं रहा है।

(5) चित्त प्रकृति का कार्य था। भुक्ति और मुक्ति के कृत्य पूरे हो गये। अब इसका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा। बन्धन और मुक्ति दोनों छूट गये।

(6) अब यह चित्त स्व-रूप को छोड़कर अपने कारणरूप गुणों मे विलीन हो रहा है, क्योंकि भुक्ति और मुक्ति दोनों कृत्य सम्पन्न हो गये हैं। अब उसका कोई भी कार्य शेष नहीं हैं।

(7) यह पुरुष आत्मज्ञ हो चुका है। त्रिगुणातीत होकर अपनी निर्गुण, निराकार, असंग एवं कूटस्थ अवस्था अर्थात् अपने ही स्वरूप में अचल भाव से स्थिर हो गया है।

इन सात प्रकार की उत्कर्ष-प्राप्त अवस्था वाली प्रज्ञा (बुद्धि) में प्रथम चार कार्य-विमुक्ति की द्योतक हैं, इस कारण वे 'कार्यविमुक्ति प्रज्ञा' कहलाती हैं और अन्त की तीन चित्त-विमुक्ति की द्योतक हैं, इस कारण उन्हें 'चित्तविमुक्ति प्रज्ञा' कहा गया हैं।

छन्दोबद्ध सार

हुआ तत्त्वज्ञान, दुःख दोष का निशान मिटा
उच्चस्तरीय सात ये योग-भूमियाँ बनीं।

कष्ट देने वाले द्रष्टा-दृश्य का सम्बन्ध मिटा
हुआ आत्मबोध चित्त बना मुक्ति का धनी ।
प्रकृति का कार्य चित्त कृत्य कर लीन हुआ
भुक्ति-मुक्ति साधनाएँ पूरी हो गयीं घनी ।
आई 'कार्यमुक्ति प्रज्ञा' और 'चित्तमुक्ति प्रज्ञा'
निजरूप ज्ञान हुआ, मिटी दु:ख की अनी ।

सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपाय इति । न च सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते—

'विवेकख्याति' रूपी हानोपाय सिद्ध होता है, किन्तु साधन के बिना सिद्ध नहीं होता है, अस्तु (साधनों को बताने वाला सूत्र) बतलाना आरम्भ किया जाता है—

⊛ अष्टाङ्ग योग अशुद्धि-क्षय और ज्ञान-दीप्ति का प्रकाशक ⊛

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥28॥

शब्दार्थ—योगाङ्गः = योग के अंग । अनुष्ठात् = अनुष्ठान करने से । अशुद्धिक्षये = अशुद्धि का नाश होने पर । ज्ञानदीप्तिः = ज्ञान का प्रकाश । आविवेकख्यातेः = विवेकख्याति पर्यन्त ।

सूत्रार्थ—योग के अंगों का अनुष्ठान करने से तन-मन, बुद्धि और चित्त में व्याप्त मलों का विनाश होता है और विवेकख्याति के उदय होने तक ज्ञान का प्रकाश होता जाता है ।

योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि । तेषामनुष्ठानात्पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः । तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः । यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते । यथा यथा च क्षीयते अशुद्धिः तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्धते । सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्याविवेकख्यातेः, आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः । योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणम् । यथा परशुश्छेद्यस्य । विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं यथा धर्मः सुखस्य, नान्यथा कारणम् । कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति ? नवैवेत्याह । तद्यथा—

'उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः ।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्' ॥ इति ॥

तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति विज्ञानस्य । स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता शरीरस्येवाहार इति । अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्यालोकस्तथा

रूपज्ञानम् । विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्, यथाग्निः पाक्यस्य । प्रत्यय-कारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य । प्राप्तिकारणं योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः । वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः । अन्यत्वकारणं यथा—सुवर्णस्य सुवर्णकारः । एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्या मूढत्वे, द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे, तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये । धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणाम् । तानि च तस्य । महाभूतानि शरीराणाम् । तानि च परस्परं सर्वेषाम् । तैर्यग्यौनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वादिति । एवं नव कारणानि। तानि च यथासम्भवं पदार्था-न्तरेष्वपि योज्यानि । योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभत इति ॥28॥

आगे कहे जाने वाले योग के आठ अंग हैं । उनके अनुष्ठान से पाँच पर्वों वाली अविद्यारूपिणी अशुद्धि का नाश होता है । उसका नाश होने से यथार्थ ज्ञान का आविर्भाव होता है । जैसे-जैसे साधनों का अभ्यास बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अशुद्धि क्षीण होती जाती है एवं जैसे-जैसे अशुद्धि क्षीण होती जाती है, वैसे-वैसे क्षीणता के क्रम के अनुसार ज्ञान की दीप्ति भी बढ़ती जाती है । ज्ञान के प्रकाश की यह अभिवृद्धि 'विवेकख्याति' के उदयपर्यन्त विकसित होती जाती है अर्थात् सत्त्वादि गुण तथा पुरुष इन दोनों के स्वरूप के ज्ञान पर्यन्त उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है । जैसे कुठार काष्ठ को काटने का कारण है वैसे ही योगांगों का अशुद्धियों को काटने का कारण है । एक ही योगांगों के अनुष्ठान की प्रक्रिया अशुद्धि के विनाश और 'विवेकख्याति' दोनों का ही कारण है । इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का कारण नहीं है । शास्त्र में ये कारण कितने प्रकार के होते हैं ? उत्तर में कहते हैं नौ प्रकार के हैं; यथा—

1. उत्पत्ति कारण, 2. स्थिति कारण, 3. अभिव्यक्ति कारण, 4. विकार कारण, 5. ज्ञान कारण, 6. प्राप्ति कारण, 7. वियोग कारण 8. अन्यत्व कारण, 9. धृति कारण—ये नौ कारण स्मृतियों में बताये गये हैं ।

उनमें (1) 'मन' ज्ञान की उत्पत्ति का कारण होता है । (2) 'पुरुषार्थ' मन का स्थिति कारण है । जैसे—'भोजन' शरीर की स्थिति का कारण है । (3) अभिव्यक्ति कारण—जिस प्रकार रूप की अभिव्यक्ति का कारण प्रकाश है, उसी प्रकार रूप का ज्ञान भी अभिव्यक्ति का कारण है । (4) मन के विकार का कारण ध्येय विषय से हटकर दूसरी ओर जाना है । जैसे—पकाने योग्य कठिन पदार्थों को पका कर मृदु करने का कारण अग्नि है । (5) ज्ञान कारण अर्थात् कार्य से कारण का ज्ञान है । जैसे पहले से ही विद्यमान अग्नि के ज्ञान का कारण धूम है । (6) प्राप्तिकारण अर्थात् विवेकख्याति का प्राप्ति कारण योगांगों का अनुष्ठान है । (7) वही योगांगों का अनुष्ठान अविद्यादि अशुद्धि का वियोग कारण है । (8) अन्यत्व कारण, जैसे सोने का सुनार । इसी प्रकार एक स्त्री ज्ञान की मूढरूपता में 'अविद्या', दुःखरूपता में 'द्वेष', सुखरूपता में 'राग' और उदासीनरूपता में 'तत्त्वज्ञान' अन्यत्व कारण हैं ।

(9) शरीर इन्द्रियों का धृति कारण है और वे इन्द्रियाँ उस शरीर के धृति कारण हैं। महाभूत भी शरीरों के धृति कारण हैं। तिर्यग् योनि वाले पशु-पक्षी, मनुष्य और देवता गण भी एक-दूसरे के लिए उपयोगी होने के कारण (परस्पर धृति कारण हैं)। इस प्रकार कुल नौ कारण होते हैं। उन्हें यथासम्भव अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में भी घटित कर लेना चाहिए। योगांगों का अनुष्ठान तो दो प्रकार का ही कारण बनता है। (अशुद्धि के वियोग और विवेकख्याति की प्राप्ति)।

योगदीपिका

योग को आठों अङ्गों के अनुष्ठान से अविद्यादि क्लेश रूप अशुद्धियाँ दूर होती हैं और सम्यक् ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है। यह अभ्यास जितना-जितना बढ़ता जाता है, उतनी ही क्लेश की निवृत्ति और ज्ञान के प्रकाश की अधिकता होती जाती है। यह प्रकाश की वृद्धि 'विवेकख्याति' पर्यन्त पहुँच जाती है। सूत्रकार ने योगांगानुष्ठान को ही अशुद्धि-विनाश या मलक्षय और 'विवेकख्याति' की प्राप्ति इन दोनों का कारण बताया है। भाष्यकार ने शास्त्रोक्त नौ कारणों का भी उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—1. उत्पत्ति कारण, 2. स्थिति कारण, 3. अभिव्यक्ति कारण, 4. विकार कारण, 5. ज्ञान कारण, 6. प्राप्ति कारण, 7. वियोग कारण, 8. अन्यत्व कारण, 9. धृति कारण। इनका विवेचन व्यासभाष्य की टीका में हैं।

छन्दोबद्ध सार

आठ अंग योग के हैं यमनियमासनादि
इनका अभ्यास क्लेश जाल को जलाता है।
तन-मन के मलों को दूर करता अशेष
ज्ञान-दीप्ति को विशेष रूप से बढ़ाता है।
ज्ञान के प्रकाश को बढ़ाता जाता तब तक
जब तक पूर्ण ज्ञान-तत्त्व नहीं आता है।
अविद्यादि क्लेश को मिटाता है विशेष यह
साधक को मुक्ति द्वार तक पहुँचाता है।

तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते—

अब योग के साधनभूत अंगों का निर्धारण किया जा रहा है—

⊛ योग के आठ अङ्ग ⊛

यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-
समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥29॥

शब्दार्थ—यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधय: = यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि । अष्टौ = आठ । अङ्गानि = (योग के) अंग हैं ।

सूत्रार्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योग के आठ अंग हैं ।

यथाक्रममेतेषामनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्याम: ॥29॥

क्रमानुसार इनका अनुष्ठान और स्वरूप कहेंगे ।

योगदीपिका

इन आठों योगांगों का आगे वर्णन किया जायेगा, अस्तु यहाँ पर इनका नाममात्रोल्लेख किया जा रहा है । योगरूपी शरीर के आठ अङ्ग हैं, जिनके बल से योगसाधना सिद्धि तक पहुँचती है । वे आठ अंग हैं—1. यम, 2. नियम, 3. आसन, 4. प्राणायाम, 5. प्रत्याहार, 6. धारणा, 7. ध्यान, 8. समाधि ।

छन्दोबद्ध सार

यम, नियम, आसन और प्राणायाम, प्रत्याहार हैं ।
धारणा, ध्यान, समाधि ये ही योग अंग उदार हैं ॥

तत्र—

वहाँ (उनमें से—)

⊛ अष्टाङ्ग योग के प्रथम अंग 'यम' का कथन ⊛

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमा: ॥30॥

शब्दार्थ—अहिंसा = किसी को अनुचित कष्ट न पहुँचाना । सत्य = सत्य । अस्तेय = चोरी न करना । ब्रह्मचर्य = वीर्य रक्षा । अपरिग्रह = अनावश्यक संग्रह न करना । यमा: = यम हैं ।

सूत्रार्थ—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच 'यम' हैं ।

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह: । उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूप-

करणायैवोपादीयन्ते । तथा चोक्तम्—'स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसा करोति' । सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे । यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्च । परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेदिति । एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय । यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत् । तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्, तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् । स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम् । तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः । विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥30॥

उनमें (यमों में) से सभी प्रकार से समस्त कालों में समस्त भूतों को पीड़ा न पहुँचाना 'अहिंसा' है । अगले यम-नियम अहिसा पर आश्रित हैं । वे अहिंसा सिद्धि के हेतु होने के कारण अहिंसा-प्रतिपादन के लिए ही शास्त्र में प्रतिपादित हुए हैं । अहिंसा को निर्मल करने के लिए ही वे (सत्यादि) उपादेय होते हैं । कहा भी है—निश्चय ही वह यह ब्राह्मण (योगी) जैसे-जैसे बहुत सारे व्रतों को अपनाना चाहता है, वैसे-वैसे असावधानी के कारण होने वाले हिंसा के कारणों से निवृत्त होता हुआ उसी उच्च स्तर की अहिंसा का आचरण करता है ।

जो पदार्थ जैसा है, उसके सम्बन्ध में वैसी ही वाणी और वैसा ही भाव मन में होना 'सत्य' है । जिस प्रकार का विषय दृष्ट, अनुमित अथवा श्रुत हो उसी प्रकार का वाक्य और मन अर्थात् कथन और चिन्तन 'सत्य' है । अपने ज्ञान को दूसरे तक पहुँचाने के लिए कही गयी वह वाणी यदि वंचना वाली न हो, भ्रान्त न हो, अभिप्राय की अभिव्यक्ति में असमर्थ न हो (तो वह सत्य है) । यह वाणी प्राणिमात्र के उपकार के लिए प्रवृत्त होती है, प्राणियों के अपकार के लिए नहीं । यदि इस प्रकार से बोली जाने वाली वाणी प्राणियों की हानि या पीड़ा के लिए हो तो वह पुण्य न होकर पाप की ही कोटि में आती है । उस प्रकार पुण्यवत् प्रतीयमान अपुण्य से अत्यन्त कष्टकर नरक ही प्राप्त होगा । अतएव विचार पूर्वक सर्वभूत हितजनक सत्य वाक्य ही बोलना चाहिए ।

शास्त्राज्ञा को विरुद्ध अवैध रूप से परद्रव्य-ग्रहण 'स्तेय' है । इस अवैध स्तेय का प्रतिषेध अर्थात् पूर्ण परित्याग अर्थात् प्राप्ति की अभिलाषा न करना 'अस्तेय' है । गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम 'ब्रह्मचर्य' है । अर्जन, रक्षण, क्षय, आसक्ति और हिंसा—इन पाँच प्रकार के दोषों को देखकर विषयों को ग्रहण न करना 'अपरिग्रह' है । ये इतने 'यम' हैं ।

योगदीपिका

इस सूत्र में अहिंसादि पाँच यमों का कथन है । योग के आठ अंगों में पहला अंग 'यम' है । ये पाँचों व्यक्ति के बाह्य व्यवहारों से विशेष रूप से सम्बन्धित हैं ताकि इनके पालन से अवरोधक समाज विरोधी प्रतिक्रियाओं से साधक की रक्षा हो और उसकी मानसिक शान्ति भंग न हो । आचरण शुद्धि से मन-शुद्धि और मन-शुद्धि से संस्कार-शुद्धि सम्बन्धित है । इनका संक्षिप्त परिचय निम्नवत् है—

(1) **अहिंसा**—अहिंसा का क्षेत्र व्यापक है । अपने तन, मन, वचन एवं व्यवहार द्वारा ऐसा कोई भी कार्य न करना, जिससे किसी प्राणी को अनुचित कष्ट का सामना करना पड़े । अहिंसा अन्य चार यमों की मूल है ।

(2) **सत्य**—जैसा देखा, सुना या अनुभव किया हो, उसे वैसा ही कहना सत्य है । सत्य को छल-रहित, निष्कपट और निर्भ्रान्त होना चाहिए ।

(3) **अस्तेय**—अवैध रीति से किसी का धन, पद, वस्तु या अधिकार का अपहरण 'स्तेय' है । इस अवैधता से बचकर व्यवहार करना 'अस्तेय' है ।

(4) **ब्रह्मचर्य**—जननेन्द्रिय का निग्रह अर्थात् वीर्य-रक्षा द्वारा शरीर में ओजस् एवं तेजस् विद्यमान रहता है और शरीर में शीत-उष्ण के सहन की क्षमता तथा शक्ति बनी रहती है, जिससे योग-साधना को बल मिलता है ।

(5) **अपरिग्रह**—साधक को सात्त्विक जीवन बिताना चाहिए । आवश्यकता से अधिक धन-सामग्री का संचय नहीं करना चाहिए । अधिक धन और सुख-सुविधाएँ जीवन में विलासिता ला सकती हैं । उनका अर्जन, संग्रह, संरक्षण और क्षय सब-के-सब दु:ख या अशान्तिकारक हैं, अस्तु परिग्रह दोष का परित्याग और अपरिग्रह को स्वीकार करना साधना में आवश्यक है ।

छन्दोबद्ध सार

तन मन सबल विमल बना रहे, अस्तु
'यम' का स्वीकार कर लेना अनिवार्य है ।
अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य
अपरिग्रह पाँच यम जो कि स्वीकार्य हैं ।
कष्ट दो न प्राणियों को, सत्य, ब्रह्मचर्य रक्खो
चोरी दोष संग्रह सदैव परिहार्य है ।
पाँचों यम योग-साधना की नींव रूप, अस्तु
साधना में अनिवार्य रूप से ये धार्य हैं ।

ते तु—

वे तो—

⊛ पंच यमों के 'महाव्रत' बनने का समय ⊛

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥31॥

शब्दार्थ—जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः = जाति, देश, काल, समय से अबाधित। सार्वभौमाः = सभी अवस्थाओं में पालनीय। महाव्रतम् = महाव्रत हैं।

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त यम जाति, देश, काल और समय की सीमा से परे 'महाव्रत' हैं।

तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यबन्धकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा। सैव देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति। सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां, न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति। सैव त्रिभिरुपतरस्य समयावच्छिन्ना देव-ब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति। यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति। एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परि-पालनीयाः। सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यते ॥31॥

उनमें से जाति से सीमित अहिंसा का स्वरूप यह है कि जैसे कि मछुवारों की मत्स्य सम्बन्धी हिंसा और अन्य जाति सम्बन्धी अहिंसा अर्थात् उनकी हिंसा यदि केवल आजीविका हेतु मछलियों तक सीमित हो और अन्यत्र न हो, तो वह 'जात्यवच्छिन्न अहिंसा' होगी। इसी प्रकार देशावच्छिन्न अहिंसा है जैसे 'तीर्थ में हिंसा नहीं करूँगा' इत्यादि। चतुर्दशी या व्रत के पुण्य दिनों में हिंसा नहीं करूँगा—यह 'कालावच्छिन्न' अहिंसा है। वही इन तीनों से पृथक् अर्थात् जाति, देश, काल से सीमित न होकर भी समय से सीमित जैसे कि देवों और ब्राह्मणों के लिए ही हिंसा या वध करूँगा अन्य प्रकार से नहीं, जैसे कि क्षत्रियों द्वारा युद्ध में ही हिंसा करना अन्यत्र नहीं। इन जाति, देश, काल, समयों की सीमाओं में सीमित न करके अहिंसादि व्रत सर्वथा आचरणीय हैं। सभी भूमियों अर्थात् सभी अवस्थाओं, विषयों में, सभी प्रकार से अव्यभिचरित अर्थात् सार्वभौम होने पर ये 'यम' महाव्रत कहलाते हैं।

योगदीपिका

जब पूर्वोक्त अहिंसादि व्रतों को देश, काल, जाति, समय की सीमा में बाँध कर संकुचित कर दिया जाता है, तब ये व्रत और जब जाति, देश, काल और समय

की सीमा तोड़ दी जाती हैं, उन्हें सार्वजातिक, सार्वदेशिक, सार्वकालिक बना दिया जाता है और सभी अवस्थाओं में पालनीय बना लिया जाता हैं, तब पूर्वोक्त व्रत 'महाव्रत' की कोटि में आ जाते हैं ।

इस सूत्र का ऐसा भी भाव लिया जा सकता है कि पूर्वोक्त अहिंसादि यमों का पालन किसी जातिविशेष, देशविशेष या अवस्थाविशेष के मनुष्यों के लिए ही नहीं है, अपितु भूमण्डल मे व्याप्त मानवमात्र के लिए है । सार्वदेशिक, सार्वकालिक होने के कारण ये सार्वभैम 'महाव्रत' हैं । आत्मशान्ति और विश्वशान्ति दोनों के लिए इनकी परम आवश्यकता है । अहिंसा महाव्रत तब बनती है जब भाष्य कथित देश, काल की सीमा बन्धन से आगे निकल जाये, सार्वकालिक और सार्वभौमिक हो जाये ।

छन्दोबद्ध सार

जिस काल अहिंसादि व्रत सर्वव्यापक हो
जाति-देश-काल की परिधि तोड़ जाते हैं ।
साधक के जीवन में सार्वभौम रूप धार
जब बन दिव्य निज रूप दिखलाते हैं ।
पालित हो, चालित हो, सर्वभूमि पर जब
सार्वभौम रूप धार जीवन में आते हैं ।
संकुचित सीमा तोड़ सर्वव्याप्त बने दिव्य
पूर्वोक्त व्रत 'महाव्रत' कहलाते हैं ।

॥ पाँच नियम ॥

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥32॥

शब्दार्थ—शौचसंतोषतपःस्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान = शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरशरणागति । नियमाः = नियम हैं ।

सूत्रार्थ—शौच (पवित्रता), संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति—ये पाँच नियम हैं ।

तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्, आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम् । सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा । तपो द्वन्द्वसहनम् । द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे, स्थानासने, काष्ठमौनाकारमौने च । व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि । स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्—

'शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः ।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी' ॥

यत्रेदमुक्तम्—'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च' (यो.सू. 1:29) इति ॥32॥

उनमें से मृत्तिका और जल आदि से होने वाला तथा पवित्र भोजन आदि बाह्य शौच है। चित्त के मलों को दूर करना आभ्यन्तर शौच है। अपने पास विद्यमान साधन से अधिक साधन को ग्रहण करने की अनिच्छा 'सन्तोष' है। द्वन्द्वों को सहना, भूख-प्यास, शीत-उष्ण, खड़ा होना-बैठना, काष्ठ मौन (लकड़ी के सदृश चुप रहना) तप है। आकार मौन (भूख से कुछ न बोलना) और अनुकूलता के अनुसार व्रत, कृच्छ्र, चान्द्रायण, सन्तापनादि तप कहलाते हैं। मोक्षप्रद शास्त्रों का अध्ययन और प्रणव का जप स्वाध्याय है। सभी कर्मों को उस परमगुरु परमात्मा मे अर्पित करना ईश्वर-प्रणिधान है। शय्या अथवा आसन पर स्थित या पथ पर चलता हुआ आत्मनिष्ठ, वितर्कजाल से रहित, संसार के बीजरूप अविद्या के क्षय को देखता हुआ नित्यमुक्त अमृत भोगने वाला होता है। जिसके प्रसंग में यह कहा गया है कि उस ईश्वरप्रणिधान से जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान, ईश्वर-साक्षात्कार और साधनागत विघ्नों का विनाश होता है।

योगदीपिका

मन की चंचलता को रोकने, रोग-रहित स्वस्थ जीवन बिताने, आत्मशुद्धि आदि में तन-मन की पवित्रता आवश्यक है। पूर्वोक्त पाँचों नियमों—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान का योग-साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। बीज-वपन में किसान यदि ठीक से खेत जोत कर प्रथम तैयार न करे, तो बीजांकुरण ठीक से नहीं होगा। यम-नियम की वही भूमिका है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान के विषय में पहले भी कहा जा चुका है, अस्तु उस विषय में यहाँ विस्तार देने की आवश्यकता नहीं है।

छन्दोबद्ध सार

तन मन को पवित्र रखना ही 'शौच' कहा जाता है।
तृष्णा का अभाव हो तब 'संतोष' भाव आता है॥
'तप' है निज कर्त्तव्य मार्ग में दुख-द्वन्द्वों को सहना।
है 'स्वाध्याय' कहाता सद्ग्रन्थों को पढ़ते रहना॥
ईश्वर की शरणागति है 'ईश्वरप्रणिधान' कहाता।
पाँच 'नियम' हैं ये ही, जिनको योगशास्त्र बतलाता॥

एतेषां यमनियमानाम्—

इन यमों और नियमों के—

⊛ वितर्कों से बचने के उपाय ⊛

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥33॥

शब्दार्थ—वितर्कबाधने = वितर्कों से बाधा उपस्थित होने पर । प्रतिपक्ष = विरुद्ध पक्ष की । भावनम् = भावना करनी चाहिए ।

सूत्रार्थ—यम-नियमों के विरोधी हिंसादि 'वितर्क' हैं । इन वितर्कों द्वारा यम-नियमों के बाधित होने पर वितर्कों के विरोधी विचारों की भावना करनी चाहिए ।

यदास्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन् हनिष्याम्यहमपकारिण-मनृतमपि वक्ष्यामि, द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि दारेषु चास्य व्यवायी भवि-ष्यामि, परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति । एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरे-णातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान् भावयेत् । घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमा-नेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः । स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति भावयेत् । यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति । एवमादि सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम् ॥33॥

जिस समय ब्राह्मण साधक को हिंसा आदि वितर्क उत्पन्न होकर बाधित करे कि मैं अपने शत्रु का हनन करूँगा और आवश्यकता पड़ने पर असत्य भी बोलूँगा, इसके द्रव्य को छीन लूँगा, इसकी स्त्री के साथ बलात्कार करूँगा, इसके संचित धन पर अधिकार करूँगा, इस प्रकार के अतितीव्र कुमार्गोन्मुख वितर्क रूपी ज्वर द्वारा पीड़ित होने पर उन विचारों के प्रतिकूल विचारों की भावना करे । (विचार करे कि) जैसे 'घोर संसार रूपी अंगारों में झुलसते हुए मैंने सब प्राणियों को अभयदान देकर योगधर्म की शरण ली है । वही मैं वितर्कों को त्यागकर पुनः उनको ग्रहण करता हुआ कुत्ते के समान व्यवहार करने वाला हो गया हूँ' । जिस प्रकार कुत्ता वमन किये गये पदार्थ को चाटने वाला होता है, उसी प्रकार से मैं छोड़े हुए को पुनः ग्रहण करने वाला हो गया हूँ । इसी प्रकार अन्य सूत्रों में कथित साधनों में वितर्कों के उठने पर प्रतिपक्षी विचारों की भावना करनी चाहिए ।

योगदीपिका

मन स्वभाव से चंचल है, जन्म-जन्मान्तर के संस्कार भी आग में घी डालने जैसा काम करते हैं और साधना मे बाधा डालते हैं । सूत्रकार का सुझाव है कि नकारात्मक विचारों को उनके विरोधी सकारात्मक विच.रों से खण्डित करना चाहिए ।

क्रोध के आने पर शान्ति का भाव, लोभ आने पर वैराग्य-भाव का चिन्तन करे। ईर्ष्या-द्वेष में मैत्री के भाव जगाये। संग दोष या सताये जाने पर जो प्रतिहिंसा के भाव पैदा होते हैं, उन्हें सोच-विचार पूर्वक मिटाना चाहिए। आत्म-निर्देशपूर्वक साधना के विरोधी भावों को शमन करे।

छन्दोबद्ध सार

योगसाधना में विचार जो बाधक बन कर आये।
चंचलता बढ़ स्थिरता पर बदली ज्यों छा जाये॥
साधक को चाहिए सकारात्मक विचार शुभ लाये।
छाये प्रतिपक्षी विचार को क्षण में मार भगाये॥

⊛ यम और नियम के विरोधी - वितर्क ⊛

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥34॥

शब्दार्थ—हिंसादयः = हिसादि भाव। वितर्का = वितर्क हैं। कृत = स्वयं किये हुए। कारिता = कराये हुए। अनुमोदिताः = अनुमोदन किए हुए। लोभक्रोधमोहपूर्वकाः = लोभ, क्रोध और मोह कारण वाले। मृदुमध्याधिमात्राः = मृदु, मध्य और अधिक मात्रा वाला। दुःख-अज्ञान-अनन्तफलाः = दुःख और अज्ञान रूप अनन्त फल देने वाले हैं। इति = ऐसा विचार ही। प्रतिपक्षभावनम् = प्रतिपक्ष की भावना है।

सूत्रार्थ—'यम' और 'नियम' के विरोधी हिंसादि भाव 'वितर्क' कहलाते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—1. स्वयं किये हुए, 2. दूसरों से करवाये हुए, 3. अनुमोदन किये हुए। इनके कारण लोभ, क्रोध, मोह हैं। इनमें भी मृदु, मध्य ओर अधिमात्र भेद वाले हैं। ये दुःख और अज्ञान रूप अनन्त फल देने वाले हैं। इस प्रकार का विचार करना ही 'प्रतिपक्ष भावना' है।

तत्र हिंसा तावत्—कृतकारिताऽनुमोदितेति त्रिधा। एकैका पुनस्त्रिधा—लोभेन मांसचर्मार्थेन, क्रोधेनापकृतमनेनेति, मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति। लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधा मृदुमध्याधिमात्रा इति। एवं सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति हिंसायाः। मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिविधाः—मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति। तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति। तथा मुदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति। सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसङ्ख्येया प्राणभृद्भेदस्यापरिसङ्ख्येयत्वा-

दिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यम्। ते खल्वमी वितर्काः—दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। दुःखमज्ञानश्चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम्। तथा च हिंसकस्तावत्प्रथमं वध्यस्य वीर्यमाक्षिपति ततश्च शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति। ततो जीवितादपि मोचयति। ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति। दुःखोत्पादान्नरकतिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति। जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्त्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात्कथञ्चिदेवोच्छ्वसिति। यदि च कथञ्चित्पुण्यावापगता हिंसा भवेत्तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासम्भवम्। एवं वितर्काणां चामुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन्न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत ॥34॥

उनमें से हिंसा कृत, कारित तथा अनुमोदित इस प्रकार त्रिविध है। इन तीनों में प्रत्येक पुन: तीन प्रकार की है। लोभपूर्वक जैसे कि मांसचर्म के लिए, क्रोधपूर्वक जैसे कि इसने मेरा अहित किया है, अत: हिंसनीय है और मोहपूर्वक जैसे कि बलि की हिंसा यह मानकर कि इससे धर्माचरण होगा। लोभ, क्रोध, मोह भी मृदु, मध्य तथा अधिमात्र भेद से त्रिविध हैं। इस प्रकार हिंसा सत्ताइस प्रकार की हुई। मृदु, मध्य, अधिमात्र भी पुन: त्रिविध हैं—मृदु-मृदु, मध्य-मृदु और तीव्र-मृदु; मृदु-मध्य, मध्य-मध्य और तीव्र-मध्य; मृदु-तीव्र, मध्य-तीव्र, अधिमात्र-तीव्र। इस प्रकार हिंसा इक्यासी प्रकार की होती है। वही हिंसा फिर नियम, विकल्प और समुच्चय के भेद से असंख्य प्रकार की होती है, क्योंकि प्राणिगत भेद भी असंख्य हैं। इस प्रकार की विभाग-प्रणाली 'असत्य', 'स्तेय' आदि में भी समझ लेना चाहिए।

'वे ये वितर्क दु:ख अज्ञानरूपी अनन्त फल वाले होते हैं'। इस प्रकार जानकर वितर्क विरोधी भावना करनी चाहिए। इस विषय में उदाहरण के रूप में यह कहा जा सकता है कि हिंसक पहले वध्य का वीर्य (बल) नाश करता है। बन्धनादि पूर्वक बाद में उसे अस्त्राघात द्वारा दु:ख देता है, फिर जीवन से वियुक्त करता है। उस पशु के बल को अवरुद्ध करने से हिंसक के चेतन-अचेतन साधन निर्बल हो जाते हैं। दु:ख उत्पन्न करने से हिंसक को नरक-तिर्यक्-प्रेतादि योनियों में कष्ट भोगना पड़ता है। प्राण का विनाश करने से हिंसक व्यक्ति प्रतिक्षण जीवननाशकारक, मोह-मय रुग्ण अवस्थादि में रहकर मरने की इच्छा करते हुए भी दु:ख फल निश्चित रूप से भोग्य होने के कारण केवल किसी प्रकार से श्वास भर लेता है। और यदि वह हिंसा हिंसक के पुण्य के साथ मिलकर फल दे, तो भी उस हिंसक को सुख-प्राप्ति होने पर वह हिंसक अल्पायु होता है। इसी प्रकार असत्यादि में भी यथासम्भव यह युक्त शैली प्रयोग करनी चाहिए। वितर्क समूह के इस प्रकार के अवश्यंभावी अनिष्ट परिणामों का चिन्तन करते हुए मन को वितर्कों में न लगाये।

योगदीपिका

यम-नियमों के पालन में यदि उनके विरोधी भाव हिंसा, चोरी आदि पैदा हों तो ऐसे विरोधी भावों को 'वितर्क' कहते हैं। ये वितर्क भी तीन प्रकार के होते हैं— 1. स्वयं किये हुए, 2. दूसरों द्वारा कराये गये, 3. दूसरों को करते देखकर उनका अनुमोदन करने से। ये तीनों प्रकार के वितर्क यम-नियमों के विरोधी हैं। मात्रा की तीव्रता के अनुसार इनके तीन भेद होते हैं। ये कभी अल्प रूप में, कभी मध्यम रूप में तथा कभी तीव्ररूप में आते हैं, जिससे साधक ध्येय से विचलित हो जाता है। इन वितर्कों के अनेक भेद-विभेद हैं। कारण के अनुसार इसके तीन भेद हैं—लोभ-वश—चमड़े-मांस आदि के लिए निर्दोष पशुवध। क्रोधवश—बदले के रूप में की गयी द्वेषबद्ध हिंसा। मोहवश—स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए पशुबलि आदि रूप में हिंसा। इस प्रकार 3 x 3 = 9 प्रकार की हिंसा हुई। यह नौ प्रकार की हिंसा मृदु, मध्य, अधिमात्र का भेद होने से 9 x 3 = 27 प्रकार की हुई। इसी प्रकार मृदु, मध्य और अधिमात्र के प्रत्येक के मृदु, मध्य और अधिमात्र भेद होने से तीन-तीन भेदों वाली होकर 27 x 3 = 81 प्रकार की हुई। इसी प्रकार असत्य, स्तेय आदि वितर्कों के बहुत भेद होकर सब मिलकर अनन्त दुःखों का कारण बनते हैं।

इन सब पर साधक को सम्यक् विचार करना चाहिए कि ये सब मेरी साधना के बाधक तो हैं ही, जन्म-जन्मान्तर तक के अनन्त दुःखों के कारण भी बनेंगे। ये मुझे नरक भोग देंगे, रोग-शोक-व्याधि, अकाल मृत्यु के रूप में प्रकट होते रहेंगे। इन कथित वितर्कों के प्रतिपक्ष में ऐसी भावनाएँ करके उनसे दूर रहना चाहिए और उन्हें नष्ट करते रहना चाहिए। इस प्रकार पूर्वोक्त यम-नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करते हुए साधना-मार्ग में सतत गतिशील रहना चाहिए।

छन्दोबद्ध सार

यम और नियम जो साधन हैं साधना के
उनके विरोधी ये 'वितर्क' बन जाते हैं।
हिंसा है अहिंसा का, असत्य सत्य का 'वितर्क'
इनके असंख्य भेद खेद बन आते हैं।
इनको मिटाओ, इनके विपक्ष भाव लाओ
साधना को आगे यों बढ़ाओ बतलाते हैं।
साधना नसाते दुःख दोष हैं बढ़ाते, जुल्म
विविध ढहाते, जन्म नरक बनाते हैं।

जब 'वितर्कों' पर योगाभ्यासी विजय प्राप्त कर लेता है, तब यम-नियमजन्य जो सिद्धियाँ मिलती हैं, उनका वर्णन आगे के सूत्रों में किया जा रहा है ।

प्रतिपक्षभावनाहेतोर्हेया वितर्का यदाऽस्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति । तद्यथा—

(वितर्कों के विषय में) प्रतिपक्ष भावना करते रहने से जब योगी में त्याज्य 'वितर्क' (दुर्विचार) उत्पन्न होना बन्द हो जाते हैं, तब तज्जन्य ऐश्वर्य योगी की सिद्धि का सूचक होता है, जैसे—

⊛ 'अहिंसा' नामक यम की सिद्धि का फल ⊛

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥35॥

शब्दार्थ—अहिंसाप्रतिष्ठायाम् = अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर । तत्सन्निधौ = उस योगाभ्यासी के निकट । वैरत्याग: = प्राणी वैर त्याग देते हैं ।

सूत्रार्थ—'अहिंसा' की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगाभ्यासी के समीप सभी प्राणी वैर-भाव का परित्याग कर देते हैं ।

सर्वप्राणिनां भवति ॥35॥

सभी प्राणियों का वैर-भाव परित्यक्त हो जाता है ।

योगदीपिका

इस सूत्र में 'अहिंसा' नामक यम की दृढ़ता की पहचान या लक्षण बताया गया है । जब योगाभ्यासी में अहिंसा की स्थिति दृढ़ हो जाती है, तब उसके विचार-तरंगों के प्रभाव से उसके निकटस्थ सभी प्राणी अपने वैर-भाव का परित्याग कर देते हैं। इसके दर्शन ऋषि-मुनि, तपस्वियों के आश्रम-वर्णनों मे उपलब्ध होते हैं, जहाँ सिंह-मृग, अहि-नकुल आदि परस्पर विरोधी सत्त्व भी वैर-त्याग कर साथ-साथ निर्भय होकर विचरण करते थे ।

छन्दोबद्ध सार

जब अहिंसा नामक 'यम' योगी में पूर्णता पाता है ।
उसके सन्निकट सभी प्राणी का वैर-भाव मिट जाता है ।।

⊛ 'सत्य' नामक यम की दृढ़ता के लक्षण के फल ⊛

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥36॥

शब्दार्थ—सत्यप्रतिष्ठायाम् = सत्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर । क्रियाफलाश्रयत्वम् = क्रियाफल के आश्रय का भाव आ जाता है ।

सूत्रार्थ—योगाभ्यासी में जब सत्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है, तब उसकी वाणी सफल सिद्ध होती है; निष्फल कभी नहीं होती है ।

धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः । स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति । अमोघास्य वाग्भवति ॥36॥

योगी में सत्य की पूर्ण प्रतिष्ठा होने पर 'धार्मिक हो जाओ'—उसके ऐसा कहने पर लोग धार्मिक हो जाते हैं । उसकी वाणी अमोघ हो जाती है ।

योगदीपिका

जब साधक में 'सत्य' पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाता है, तब उसे वाचा-सिद्धि मिल जाती है । वह जो कहता है, वह हो जाता है । उसके आशीर्वाद या शाप के वचन निष्फल नहीं जाते हैं । पुराणों में इसके असंख्य उदाहरण हैं । ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों के शाप देवता तक नहीं टाल पाये हैं ।

छन्दोबद्ध सार

जब सत्य-भाव की पूर्ण प्रतिष्ठा साधक में हो जाती है ।
हो जाती वाणी सिद्ध फलवती बनकर बाहर आती है ॥

❁ 'अस्तेय' की दृढ़ता का फल ❁

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥37॥

शब्दार्थ—अस्तेय = चोरी के अभाव की । प्रतिष्ठायां = दृढ़स्थिति होने पर । सर्वरत्नोपस्थानम् = सब प्रकार के रत्न प्रकट हो जाते हैं ।

सूत्रार्थ—मनसा-वाचा-कर्मणा जब साधक में 'अचौर्य' की प्रतिष्ठा हो जाती है, तब योगाभ्यासी में यथेष्ट रत्नों, धन-वैभव की प्राप्ति-क्षमता आ जाती है ।

सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ॥37॥

सभी दिशाओं मे स्थित रत्न इस योगी के पास उपस्थित हो जाते हैं ।

योगदीपिका

जब साधक में अचौर्य भाव की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है, तब पृथ्वी में जहाँ कहीं भी गुप्त पड़े रत्न-धन-वैभवादि हैं, उसके समक्ष प्रकट हो जाते हैं अर्थात् उसके संज्ञान में आ जाते हैं ।

इसको इस प्रकार से भी समझा जा सकता है कि जब व्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण श्रमशील होता है, कामचोरी नहीं करता है, तब उसके प्रति लोगों में सहज

आस्था, श्रद्धा-विश्वास जम जाता है । उसे उसकी ईमानदारी का फल मिलने लगता है । उसकी पूछ इतनी बढ़ जाती है कि धनैश्वर्य उसके चरण चूमने लगते हैं । उसे ईश्वरीय गुप्त सहायता भी मिलती है । नीयत और बरक्कत साथ-साथ चलते हैं, ऐसे वचन सुने जाते रहे हैं । इतना ध्यान रहे कि सच्चाई का या बुराई का फल तुरन्त मिल जाय यह आवश्यक नहीं है । प्रतीक्षा तो प्रत्येक क्षेत्र में करनी ही पड़ती है ।

छन्दोबद्ध सार

जब अचौर्य का भाव प्रबल हो अपनी जड़ें जमाता है ।
तब धनैश्वर्य रत्नादिक का भण्डार स्वयं ही आता है ।।

⊛ ब्रह्मचर्य पालन के लाभ ⊛

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।।38।।

शब्दार्थ—ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम् = ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर वीर्यलाभ: = सामर्थ्य का लाभ होता है ।

सूत्रार्थ—ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर वीर्य अर्थात् सामर्थ्य लाभ होता है ।

यस्य लाभादप्रतिघान् गुणानुत्कर्षयति । सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ।।38।।

ब्रह्मचर्य-लाभ से समर्थ हुआ साधक अपने अप्रतिहत गुणों को बढ़ाता है । स्वयंसिद्ध होता हुआ शिष्यों में ज्ञान-शक्ति को धारण कराने में समर्थ होता है ।

योगदीपिका

साधना में वीर्यरक्षा का विशिष्ट महत्त्व है । ब्रह्मचर्य-पालन से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्ति का विकास होता है । ब्रह्मचर्य के पूर्ण-पालन से विशिष्ट शक्तियों का विकास होता है, जिससे आरोग्य और आयुष्य की वृद्धि होती है । साधक अप्रतिहत क्षमता द्वारा अपनी अर्जित बुद्धिक्षमता से सम्पर्क में आने वाले जिज्ञासुओं को ज्ञान प्रदान कर उन्हें लाभान्वित करता है—

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत' ।।

(ब्रह्मचर्यसूक्त; अथर्ववेद 11:7:19)

छन्दोबद्ध सार

ब्रह्मचर्य से वीर्य-लाभ का फल उत्तम मिल जाता है ।
साधक में उसके द्वारा सामर्थ्य अतुल तब आता है ।।

बना शक्ति-सम्पन्न अन्य में भी बल-बुद्धि जगाता है ।
स्वयं पार हो जाता, अन्यों को भी पार लगाता है ।।

⊙ अपरिग्रह-सिद्धि के फल ⊙

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ।।39।।

शब्दार्थ—परिग्रहस्थैर्ये = अपरिग्रह के दृढ़ हो जाने पर । जन्मकथन्तासम्बोधः = पूर्व जन्म का भलीभाँति ज्ञान हो जाता है ।

सूत्रार्थ—अपरिग्रह की स्थिति दृढ़ हो जाने पर पूर्व जन्म कैसे हुए थे, इसका ज्ञान हो जाता है ।

अस्य भवति । कोऽहमासम् ? कथमहमासम् ? किंस्विदिदम् ? कथंस्विदिदम् ? के वा भविष्यामः ? कथं वा भविष्यामः ? इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते । एता यमस्थैर्ये सिद्धयः ।।39।।

यह ज्ञान इस योगी को हो जाता है कि पूर्वजन्म में मैं कौन था, मैं कैसा था, यह क्या है, कैसे हुआ, हम कौन होंगे, कैसे होंगे ? इस प्रकार से योगी को पूर्वकालिक, परकालिक और मध्यकाल की अपनी जन्म-विषयक जिज्ञासा स्वतः पूर्ण हो जाती है । इन पाँचों यमों की स्थिरता हो जाने पर प्रादुर्भूत होने वाली ये सिद्धियाँ हैं ।

योगदीपिका

जब साधक में 'अपरिग्रह' का भाव पूर्ण सिद्ध हो जाता है, तब उसमें पूर्वजन्म विषयक स्मृतियाँ जाग्रत् हो जाती हैं । उसे अपने भूतकालिक जन्मों, वर्तमानकालिक जन्म के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और भविष्य के जन्मों के रहस्य का भी पर्दा उठ जाता है । यथार्थ ज्ञान से वैराग्य प्रबल हो उठता है और साधना को सबल सम्बल मिलता है । यहाँ तक यमों की सिद्धि के फल बताये गये । अब आगे नियमों में वितर्क शून्य स्थिरता आ जाने पर प्राप्य सिद्धियों का वर्णन करेंगे ।

छन्दोबद्ध सार

'अपरिग्रह' का भाव सिद्धि यदि पूर्णरूप से पाता ।
तो त्रिकाल का ज्ञान इस तरह योगी को हो जाता ।।
पूर्वजन्म में क्या था, कैसा वर्तमान है उसका ।
भावी जन्मों का भी होता बृहद्ज्ञान है उसका ।।

आगे के पाँच सूत्रों में वितर्क रहित 'नियमों' की सिद्धि-फल का वर्णन है ।

नियमेषु वक्ष्यामः—

अब नियमों में (सिद्धिजन्य सिद्धियाँ) कहेंगे—

⊛ 'शौच' नामक नियम में स्थिरता का फल ⊛

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥40॥

शब्दार्थ—शौचात् = शौच से । स्वांगजुगुप्सा = अपने अंगों से घृणा होती है । परैः असंसर्गः = दूसरों से संसर्ग का अभाव होता है ।

सूत्रार्थ—बाह्य शौच में स्थिरता आ जाने से अपने अंगों के प्रति घृणा और अन्य प्राणियों के अंगों से संसर्ग की इच्छा का अभाव हो जाता है ।

स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति । किञ्च परैरसंसर्गः कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासु-र्मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि कायशुद्धिमपश्यन् कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत ॥40॥

अपने शरीर के अवयवों में जुगुप्सा (घृणा) का भाव आने पर और भी अधिक शौचाभ्यास करता हुआ योगसाधक शरीर के अवद्यों (दोषों) को देखने वाला शरीर में अनासक्त होता है । शरीर के घृणित स्वरूप को देखने वाला, अपने ही शरीर को त्यागने का इच्छुक यति मिट्टी और जलादि से चारों ओर से धोते हुए भी शरीरशुद्धि को न देखता हुआ, अत्यन्त ही मलिन, सफाई न किये हुए अन्यों के शरीरों के साथ कैसे संसर्ग कर सकता है ? अर्थात् संसर्ग कर ही नहीं सकता है ।

योगदीपिका

साधक को शौच के संदर्भ मे प्रथम मलधर्मी शरीर का ध्यान आता है, अस्तु उसके प्रति अनासक्ति होती जाती है । जल-मृत्तिका द्वारा पवित्र किये जाने वाले अपने शरीर के प्रति जब उसमें घृणा-भाव उत्पन्न हो जाता है, तब शौच रहित दूसरों के शरीरों में आसक्त होने का प्रश्न ही नहीं है । इस प्रकार शौच के निरन्तर अभ्यास से योगी को मल-मूत्रादि के भण्डार इस शरीर में अपवित्रता दीखने लगती है । इससे शरीर के प्रति ममत्व छूट जाता है । वह जनसम्पर्क को बाधा जान, सबसे अलग रहकर पूर्ण तत्त्वज्ञान-प्राप्ति का अभ्यास करता है ।

छन्दोबद्ध सार

शौचधर्म पालन से तन में अपवित्रता दिखाती ।
काया के प्रति आकर्षण की प्रबल भावना जाती ॥

निज के, पर के देहों से उसका ममत्व मिट जाता ।
जुड़ता सूत्र साधना से, टूटता देह से नाता ॥

किञ्च—

(शौच के) और भी (फल बताते हैं—)

⊛ आभ्यन्तर शौच-सिद्धि का फल ⊛

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्म-
दर्शनयोग्यत्वानि च ॥41॥

शब्दार्थ—सत्त्वशुद्धिसौमनस्य-ऐकाग्र्य-इन्द्रियजय-आत्मदर्शनयोग्यत्वानि = (शौच से) बुद्धि की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर नियन्त्रण, आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है । च = और ।

सूत्रार्थ—इसके अतिरिक्त 'शौच' से अन्तःकरण की शुद्धि, मन में प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रिय-निग्रह और आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है ।

भवन्तीति वाक्यशेषः । शुचेः सत्त्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यम्, तत ऐकाग्र्यम्, तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवतीत्येतच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति ॥41॥

(सूत्र-कथित सत्त्व शुद्धि आदि सिद्धियाँ) 'होती हैं'—यह सूत्र सम्बन्धी अवशिष्ट वाक्यांश है । (आन्तरिक) शुद्धि से बुद्धि की शुद्धि, उससे मनःप्रसाद, फिर एकाग्रता, उससे इन्द्रियों पर विजय होती है, इन्द्रिय-जय से बुद्धिसत्त्व को आत्मदर्शन की क्षमता प्राप्त होती है । ये सिद्धियाँ 'शौच' विषयक स्थिरता आने पर उपलब्ध होती हैं ।

योगदीपिका

सकारात्मक शुभ चिन्तन से, जप-तप आदि साधनों से मन निर्मल हो जाता है । राग-द्वेष-ईर्ष्यादि मलों के प्रक्षालन से अत्यधिक स्वच्छ अन्तःकरण में दिव्यता का प्रवेश होता है । मन की व्याकुलता विनष्ट हो जाती है, चित्त सदैव प्रसन्न बना रहता है । विक्षेप-दोष का नाश हो जाता है । एकाग्रता का उत्तम विकास होता है । मन समेत इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं । और आत्म-दर्शन की योग्यता आ जाती है ।

छन्दोबद्ध सार

आते जब शुभ और सात्त्विक विचार शुद्ध
अन्तःकरण को प्रबुद्ध वे बनाते हैं ।

जप-तप द्वारा मन इन्द्रियाँ विमल होतीं
छाये हुए सारे मनोमल जल जाते हैं ।
विकलता दूर मन पूरित प्रसन्नता से
चित्त में एकाग्र भाव आसन जमाते हैं ।
बढ़ती एकाग्रता प्रसन्न वशीभूत मन
आत्मदर्शन की दिव्य चेतना जगाते हैं ।

⊛ स्थिर सन्तोष से लाभ ⊛

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥42॥

शब्दार्थ—संतोषात् = संतोष से । अनुत्तमसुखलाभः = जिससे बढ़कर उत्तम कोई सुख नहीं है—ऐसे सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है ।

सूत्रार्थ—'संतोष' से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है ।

तथा चोक्तम्—

'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्' ॥42॥
(महा० शान्ति० 174:46, वायुपु० 93:101)

और उसी प्रकार कहा भी गया है—

संसार में जो कामजन्य सुख है और जो महान् स्वर्गसुख है, ये दोनों सुख तृष्णा के क्षय से उत्पन्न सुख की सोलहवीं कला की भी बराबरी नहीं कर सकते हैं ।

योगदीपिका

जब 'सन्तोष' नामक 'नियम' स्थिर होकर सिद्ध हो जाता है, तब तृष्णा का पूर्ण विनाश हो जाता है और तब मन में अपूर्व और अद्भुत सुख और शान्ति का अनुभव होता है । जब अभाव का भाव जगता है, तब असंतोष आता है और उसके साथ ही काम-क्रोध-लोभ, दुःख-दैन्य-विषाद आदि नकारात्मक विचारों का प्रवेश अन्तःकरण को विकल बनाकर समाधि के अयोग्य बना देता है । गीता, रामायण, पुराण और साधु-सन्त महात्माओं सभी ने संतोष की सराहना की है; यथा—

बिनु संतोष न काम नसाहीं ।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं ॥ (मानस)

जो आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान । (कबीर)

चाह गयी, चिन्ता गयी, मनुवा बेपरवाह ।
जाको कछू न चाहिए, सो साहन को साह ।। (कबीर) ।

विशेष—यथोचित्त कर्म करने के बाद जो 'उपलब्धि' हो उसमें संतुष्ट होना 'सन्तोष' है । निर्दिष्ट कर्म त्यागकर हाथ पर हाथ रखे बैठे रह जाना 'सन्तोष' नहीं है ।

छन्दोबद्ध सार

जब संतोष भाव स्थिर हो उर में छा जाता है ।
लौकिक-अलौकिक सारा सुख झोली में आता है ।।

❀ तप:सिद्धि से उपलब्धि ❀

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः ॥43॥

शब्दार्थ—तपस: = तप के प्रभाव से । अशुद्धिक्षयात् = जब अशुद्धि का नाश हो जाता है, तब । कायेन्द्रियसिद्धि: = शरीरसिद्धि और इन्द्रियसिद्धि हो जाती है ।

सूत्रार्थ—तप द्वारा तन और मन के मलों के क्षय हो जाने पर शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है और अद्भुत सिद्धियाँ मिलती हैं ।

निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलम् । तदावरणमलापगमात् कायसिद्धिरणिमाद्या, तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति ॥43॥

विधिवत् सम्पन्न तपश्चर्या पापजन्य छाये हुए चित्त के मलावरण को नष्ट करती है । मलावरण के नष्ट होने पर अणिमादिक कायिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । उसी प्रकार इन्द्रियों की सिद्धियाँ जैसे—दूर-श्रवण, दूर-दर्शनादि भी प्राप्त हो जाती हैं ।

योगदीपिका

जैसे लोहे को तपाने से उसका मल दोष दूर हो जाता है, वैसे शरीर और इन्द्रियों का मल भी तप के अनुष्ठान से जल जाता है तथा अणिमादि शारीरिक सिद्धियाँ प्राप्त होतीं हैं और इन्द्रियों में दूर-श्रवण और दूर-दर्शन आदि शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । मन को राग-द्वेष से हटा कर कर्त्तव्यमार्ग में मानापमान, योग-साधना में शीत-उष्ण को सहन करना तप है । अपमान को तो सहने का अभ्यास करना ही चाहिए । मान को भी सहन करना चाहिए । अपमान यदि क्रोध, द्वेष या हिंसादि जगाता है, तो मान अहंकार जगाता है, जो अत्यधिक हानिप्रद है । मनु ने ठीक ही कहा है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।। (मनुस्मृति: 2:162)

अर्थात् ब्रह्मज्ञानी साधक सम्मान को विष-तुल्य समझे ।

छन्दोबद्ध सार

लोहा होता शुद्ध अग्नि में तप जाने पर जैसे ।
तन, मन, इन्द्रिय शोधित होतीं तप के द्वारा वैसे ।।
काया होती शुद्ध सिद्धियाँ अणिमादिक हैं आती ।
बहुत दूर तक श्रवण और दर्शन क्षमता जग जाती ।।

⊙ 'स्वाध्याय' सिद्धि का फल ⊙

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥44॥

शब्दार्थ—स्वाध्यायात् = स्वाध्याय से । इष्टदेवता = इष्टदेव का । सम्प्रयोगः = भलीभाँति साक्षात्कार हो जाता है ।

सूत्रार्थ—स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है ।

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्तन्त इति ॥44॥

देवता, ऋषि और सिद्ध गण स्वाध्याय-परायण साधक को दिखाई पड़ते हैं और उसके कार्य-सिद्ध करने में सहायक होते हैं ।

विषयबोधिनी

'स्वाध्याय' का अर्थ सद् ग्रन्थों का अध्ययन और आत्म-निरीक्षण होता है । मन्त्र-जाप सहित इष्टदेव का ध्यान करना भी स्वाध्याय ही है । 'स्वाध्याय' के सिद्ध हो जाने पर इष्टदेव, ऋषि और सिद्ध गणों के दर्शन होते हैं, जो साधना में सहायक बनते हैं । तुलसी ने हनुमान् के माध्यम से राम के दर्शन किये । रामकृष्ण परमहंस काली का सहारा लेकर अपने अभीष्ट तक पहुचे थे । साधक को साधना-काल में किसी समर्थ का सहारा लेना पड़ता है ।

छन्दोबद्ध सार

'स्वाध्याय' का नियम सिद्ध जब पूर्णरूप से हो जाता ।
साधक इष्ट देव, सिद्धों का साक्षात् दर्शन पाता ।।
योग-साधना में यह दर्शन परम लाभ है पहुँचाता ।
पा करके उनकी सहायता योग सुगम है बन जाता ।।

⊛ ईश्वरप्रणिधान की महिमा ⊛

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥45॥

शब्दार्थ—ईश्वरप्रणिधानात् = ईश्वरप्रणिधान से । समाधिसिद्धिः = समाधि की सिद्धि (हो जाती है) ।

सूत्रार्थ—'ईश्वरप्रणिधान' से समाधि-सिद्धि हो जाती है ।

ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च । ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ॥45॥

अपने सारे क्रिया-कलापों को ईश्वरार्पण कर देने वाले की समाधि सिद्ध हो जाती है, जिससे वह अन्य देशों में, अन्य शरीरों में और अन्य कालों में स्थित सभी इच्छित पदार्थों को ईश्वरप्रणिधान के सहारे यथार्थ रूप से जान लेता है । इस साधक की बुद्धि पदार्थों का यथार्थ साक्षात्कार करने में सक्षम होती है ।

योगदीपिका

ईश्वरप्रणिधान का अर्थ समस्त क्रियाओं और कर्मफलों को ईश्वरार्पित करके श्रद्धा-विश्वास पूर्वक साधना करना है । 'ईश्वरप्रणिधान' की आस्था जब सुदृढ़ हो जाती है, तब साधक को पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है । ईश्वरप्रणिधान पूर्वक योगसाधना करने से विघ्नों का नाश होता है और समाधि तक पहुँचना सुगम हो जाता है; इसलिए योगाभ्यासियों को 'ईश्वरप्रणिधान' के साथ योगांगों का अभ्यास करना चाहिए ।

छन्दोबद्ध सार

जब 'ईश्वरप्रणिधान' पूर्वक साधक करता योगाभ्यास ।
उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता, होता है विघ्नों का नाश ॥
ऐसा करने से समाधि की सिद्धि शीघ्र हो जाती है ।
कृपा-दृष्टि ईश्वर की उसका बेड़ा पार लगाती है ॥

उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः आसनादीनि वक्ष्यामः । तत्र—

सिद्धियों समेत यम और नियम कह दिये गये । अब आसन इत्यादि योगांगों को बतायेंगे । उनमें—

⊛ आसन क्या है ? ⊛

स्थिरसुखमासनम् ॥46॥

शब्दार्थ—स्थिरसुखम् = सुखपूर्वक स्थिर रहने का नाम । आसनम् = 'आसन' है ।

सूत्रार्थ—स्थिर और सुखपूर्वक जिसमें बैठा जा सके, वह 'आसन' है ।

तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्यङ्कं, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि ॥46॥

वे जैसे—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यंकासन, क्रौंचनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान, स्थिरसुख और यथासुख आदि ।

योगदीपिका

बैठने का निरापद ढंग आसन है । यो तो आसनों के अनेक भेद हैं, किन्तु सूत्रकार ने उनका वर्णन न करके उन्हें साधक की इच्छा पर छोड़ दिया है । भाव यह है कि जो साधक अपनी क्षमता के अनुसार जिस रीति से बिना हिले-डुले स्थिर भाव से सुखपूर्वक बिना पीड़ा के देर तक बैठ सके, वही आसन उसके लिए उपयुक्त है । आसन में रीढ़ की हड्डी का बड़ा महत्त्व है । यह मेरुदण्ड कहा जाता है । योगाभ्यास में प्राणायाम, धारणा, ध्यान व समाधि तक मेरुदण्ड को सीधे रखने की आवश्यकता होती है, तभी प्राणवायु को ऊर्ध्वोन्मुख कर सुषम्नागत किया जा सकता है । रीढ़ की हड्डी के व्यायाम के लिए सर्पासन, हलासन, जानुशिरासन, पश्चिमोत्तासन का विशेष महत्त्व है । सर्वांगासन एवं अर्द्धमत्स्येन्द्रासन भी इस हेतु उपयोगी है ।

आसनों का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है । प्रथम प्रयोग शरीर को स्वस्थ और बलवान बनाने के लिए व्यायाम रूप में किया जाता है । दूसरा प्रयोग प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की सिद्धि के लिए किया जाता है । जिन आसनों के प्रयोग प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि के हेतु होते हैं, वे ही योगासन हैं । सभी आसनों को योगासन नहीं कहा जा सकता है । स्वस्थ शरीर के बिना योग सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिए यौगिक व्यायामों का अपने स्थान पर महत्त्व है, किन्तु यह स्पष्ट समझना चाहिए कि जब साधक योगाभ्यास में आगे बढ़े, तब गुरु गोरक्षनाथ के अनुसार उसे दो साधनों की सिद्धि पर विशेष ध्यान चाहिए—1. सिद्धासन, 2. पद्मासन; यथा—

आसनेभ्य: समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् ।
एकं सिद्धासन प्रोक्तं द्वितीयं पद्मासनम् ॥ (गोरक्षसंहिता)

इन दोनों में सरलतम होने के कारण सिद्धासन अधिक उपयोगी है । सुखासन अथवा पलथी मार कर बैठना और भी सरल है, किन्तु रीढ़ की हड्डी अर्थात् मेरुदण्ड सीधा रहे, इस पर विशेष ध्यान रखना चाहिए । तीन घण्टे से ऊपर एक आसन पर जब साधक सुखपूर्वक बैठा रह सके, तब आसन-सिद्धि माननी चाहिए । मेरुदण्ड

को पुष्ट और स्वस्थ बनाने के लिए सर्पासन, हलासन, पश्चिमोत्तानासन, अर्द्धमत्स्येन्द्रासन विशेष उपयोगी हैं ।

आसन सम्बन्धी जानकारी के लिए बाजार में अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं । इसके लिए किसी प्रामाणिक ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिए ।

छन्दोबद्ध सार

बड़ी देर तक सीधे तन कर जिसमें बैठा जाये ।
योगाभ्यासी वही सुखासन इच्छा से अपनाये ।।

⊙ आसन की सिद्धि का उपाय ⊙

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।।47।।

शब्दार्थ—प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् = समस्त शारीरकि चेष्टाओं को रोक देने से और अनन्त परमात्मा में ध्यान लगाने से (आसन सिद्ध होता है)।

सूत्रार्थ—प्रयत्न अर्थात् शारीरिक चेष्टाओं को रोक देने से और अनन्त परमात्मा में ध्यान लगाने से आसन की सिद्धि होती है ।

भवतीति वाक्यशेषः । प्रयत्नोपरमात् सिध्यत्यासनं येन नाङ्गमेजयो भवति । अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ।।47।।

'होता है' यह शब्द वाक्य का पूरणीय भाग है । शारीरिक चेष्टाओं के अभाव होने पर आसन सिद्ध होता है, जिससे अंगों में कम्पन या हिलन-डुलन नहीं होता है । अनन्त परमात्मा अथवा शेषनाग में चित्त को केन्द्रित करने पर आसन सिद्ध होता है ।

योगदीपिका

शरीर को सीधा और स्थिर करके सुखपूर्वक बैठ जाने के बाद शरीर सम्बन्धी समस्त चेष्टाओं, उनका हिलना-डुलना आदि को त्याग देना प्रयत्न की शिथिलता है । इस प्रयत्न-शैथिल्य और परमात्म-चिन्तन में मन लगाने से आसन की सिद्धि होती है । कुछ टीकाकारों ने अनन्त का अर्थ 'शेषनाग' किया है । उनका आशय है कि शेषनाग भूभार धारण कर स्थिर बैठे हैं, उनकी इस असीम शक्ति का ध्यान करने से आसन में दृढ़ता का संचार होगा । भोजराज ने अनन्त का अर्थ 'आकाश' किया है और समापत्ति का अर्थ 'चित्त का तद्रूप हो जाना' किया है । आकाश असीम विस्तार के कारण अनन्त है । जिस वस्तु का ध्यान किया जाता है, उसका गुण-संक्रमण साधक में होता है; यह मनोवैज्ञानिक सत्य है । आसन की सिद्धि प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि में सहायक है ।

छन्दोबद्ध सार

चाह अगर योगाभ्यासी में, आसन-सिद्धि मिल जाये ।
शारीरिक चेष्टाएँ तज दे, परमात्मा में ध्यान लगाये ॥

⊛ आसन-सिद्धि का फल ⊛

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥48॥

शब्दार्थ—ततः = तब आसन की सिद्धि के बाद । द्वन्द्वान् अनभिघातः = द्वन्द्वों का आघात नहीं हो पाता ।

शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥48॥

आसन जयोपरान्त योगाभ्यासी शीतोष्णादि द्वन्द्वों से पीड़ित नहीं होता है ।

योगदीपिका

आसन के सिद्ध हो जाने पर योगाभ्यासी की सहन-शक्ति बढ़ जाती है । उसमें शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि को सहने की क्षमता बढ़ जाती है । परस्पर विरोधी तत्त्वों के युग्म द्वन्द्व हैं—जैसे सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, हानि-लाभ, जन्म-मरणादि । आसन-सिद्धिजन्य शक्ति की वृद्धि से तथा कथित द्वन्द्वों के आघात साधक को विचलित नहीं कर पाते हैं ।

छन्दोबद्ध सार

जब योगाभ्यासी का आसन पूर्ण सिद्ध हो जाता ।
द्वन्द्वों का आघात न उसको विचलित तब कर पाता ॥

⊛ प्राणायाम का सामान्य परिचय ⊛

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥49॥

शब्दार्थ—तस्मिन् सति = उस आसन की सिद्धि के उपरान्त । श्वास-प्रश्वासयोः = श्वास और प्रश्वास की । गतिविच्छेदः = गति का रुक जाना । प्राणायामः = प्राणायाम है ।

सूत्रार्थ—उस आसन-सिद्धि के पश्चात् श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है ।

सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः । कोष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः । तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥49॥

आसन-सिद्धि होने के उपरान्त बाहर से खींची जाने वाली वायु, जिसे 'श्वास' कहते हैं और बाहर निकाले जाने वाली वायु, जिसे 'प्रश्वास' कहते हैं—इन दोनों गतियों का नियन्त्रण प्राणायाम है ।

योगदीपिका

प्राणवायु के शरीर में प्रवेश होने को 'श्वास' और निकलने को 'प्रश्वास' कहते हैं। एक विशेष रीति से श्वास-प्रश्वास की गति को नियंत्रित करना प्राणायाम है । सूत्रकार ने सूत्र के प्रारम्भ में 'तस्मिन् सति' शब्दो के प्रयोग से यह स्पष्ट कर दिया है कि आसन के सिद्ध हो जाने पर ही प्राणायाम की सही शुरुआत होती है और तभी प्राणायाम का सही लाभ मिल सकता है । कम-से-कम तीन घण्टे एक आसन पर बिना किसी कष्ट के बैठना आसन-सिद्धि का लक्षण है । यह स्थिति तभी आ पायेगी, जब शरीर पूर्ण स्वस्थ होगा और अभ्यास का दौर निरन्तर चलता रहेगा । इस स्थिति में थोड़े समय के उपरान्त श्वास-प्रश्वास के साथ जबरदस्ती नहीं करनी पड़ेगी । वह सूक्ष्म होकर स्वतः नियंत्रित होने लगेगा । मन और प्राणवायु के बीच घनिष्ट सम्बन्ध है । ज्यों-ज्यों प्राणवायु सूक्ष्म हो वशीभूत होती जायेगी, त्यो-त्यों मन भी शान्त और नियन्त्रित होता जायेगा । ऐसी स्थिति में ध्यान करने पर श्वास-प्रश्वास की गति स्वतः थम जायेगी; यही स्थिति वास्तविक प्राणायाम की है । प्राणायाम की साधना हेतु आसन-सिद्धि आवश्यक है । प्राणायाम के विषय में अनेक पुस्तकें सुलभ हैं, अस्तु उनके भेद-प्रभेद के कथन और विधियों का वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है ।

छन्दोबद्ध सार

श्वास और प्रश्वास रोकना, प्राणायाम कहाता ।
आसन-सिद्धि बाद ही इसका उचित काल है आता ॥

स तु—

वह (प्रणायाम) तो—

⊛ प्राणायाम के अंग ⊛

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥50॥

शब्दार्थ—बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः = बाह्यवृत्ति अर्थात् प्राणवायु को बाहर निकाल कर बाहर ही रोक देना । स्तम्भवृत्तिः = स्थिर कर देना अर्थात् न बाहर निकालना और न ही अन्दर खींचना अर्थात् जहाँ का तहाँ रोक देना । देशकाल-

संख्याभिः = जिस स्थान या शरीर के जिस भाग पर प्राणवायु की क्रिया होती है, वह 'देश' है। जितने समय तक प्राणवायु भीतर, बाहर या जहाँ कहीं रुके वह 'काल' है। एक प्राणायाम के नियत काल में जितने श्वास-प्रश्वास हो सकते हैं, उनकी गणना करना 'संख्या' है। (इन तीनों द्वारा) परिदृष्टः = परखा गया। दीर्घसूक्ष्मः = दीर्घ और सूक्ष्म है।

सूत्रार्थ—शरीर के बाहर निकाली गयी (रेचक), भीतर ले जायी गयी प्राणवायु (पूरक) तथा बाहर और भीतर रुकने वाली प्राणवायु (कुम्भक) हैं। इस प्रकार त्रिविध प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा परखे जाने पर दीर्घ और सूक्ष्म कहे जाते हैं।

यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स ब्राह्यः। यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः सङ्कोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद् भवत्यभाव इति। त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टाः—इयानस्य विषयो देश इति। कालेन पर-दृष्टाः—क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः। संख्याभिः परिदृष्टाः—एतावद्भिः श्वासप्रश्वासै; प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीयः। एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः। स खल्वयमेव-मभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ॥50॥

जहाँ श्वास को बाहर निकाल कर रोकना होता है, वह 'बाह्य' है और जिसमें भीतर भर कर रोकना होता है, वह 'आभ्यन्तर' होता है। तीसरा 'स्तम्भवृत्ति' वह है, जिसमें श्वास-प्रश्वास दोनों को प्रयत्नपूर्वक रोक दिया जाता है। जैसे तप्त पाषाण पर डाला हुआ जल चारों ओर से संकुचित हो जाता है, उसी प्रकार श्वास-ग्रहण और श्वास-निःसारण—इन दोनों गतियों का एक साथ ही अभाव या अवरोध हो जाता है। ये तीनों प्राणायाम भी पुनः देश परिदृष्ट होते हैं—'देश' अर्थात् जितनी दूर तक उसका विषय अर्थात् विस्तार है। काल द्वारा परिदृष्ट अर्थात् क्षण-समूह के परिमाण द्वारा नियमित। संख्या द्वारा परिदृष्ट—जैसे इतने श्वास-प्रश्वास द्वारा नियमित प्रथम उद्घात। इस प्रकार निगृहीत होने पर इतनी संख्या द्वारा नियमित द्वितीय उद्घात, इसी प्रकार तृतीय उद्घात; इसी प्रकार मृदु, मध्य तथा तीव्र भेद भी होते हैं। यह संख्या द्वारा परिदृष्ट या नियमित या परीक्षित प्राणायाम हुआ। यह तीन प्रकार का कथित प्राणायाम उक्त विधि से अभ्यस्त होने पर दीर्घ एवं सूक्ष्म भेदों वाला हो जाता है।

योगदीपिका

इस सूत्र में बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति प्राणायामों को देश, काल और संख्याओं से परीक्षित करने पर उसके दीर्घ और सूक्ष्म भेद का निर्धारण किया गया है। योगाभ्यासी इस विधि से अपनी साधना की प्रगति का अंकन करता चलता है।

इस प्रकार परीक्षा करते-करते प्राणायाम जैसे-जैसे उन्नत होते जाते हैं, वैसे-वैसे ही उनमें दैर्घ्य और हल्कापन बढ़ता जाता है। प्राणायाम के तीन भेद इस प्रकार समझने चाहिए—

(1) **बाह्य वृत्ति**—प्राणवायु को शरीर से बाहर निकाल कर बाहर ही जितने काल तक सुखपूर्वक रुक सके रोके रहे और साथ ही साथ इस बात की परीक्षा करता रहे कि वह बाहर आकर कहाँ ठहरी है और उतने समय में स्वाभाविक प्राण की गति की कितनी संख्या होती है। यह बाह्यवृत्ति प्राणायाम है। अभ्यास करते-करते यह दीर्घ अर्थात् लम्बे समय तक रुके रहने वाला और सूक्ष्म अर्थात् हल्का या अनायास साध्य हो जाता है।

(2) **आभ्यन्तर वृत्ति**—प्राणवायु को भीतर ले जाकर भीतर ही जितने समय तक सुखपूर्वक रुक सके, रोके रखना और साथ-साथ यह देखते रहना कि आभ्यन्तर देश में कहाँ तक जाकर प्राण रुकता है, वहाँ कितने काल तक सुखपूर्वक ठहरता है तथा उतने समय में प्राण की स्वाभाविक गति की संख्या कितनी होती है। यह आभ्यन्तर प्राणायाम है। अभ्यास के बल से यह भी दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है।

(3) **स्तम्भवृत्ति**—शरीर के भीतर जाने और बाहर निकलने की जो श्वास-प्रश्वास की गति है, उसे प्रयत्नपूर्वक बाहर या भीतर लाने की क्रिया न करके, प्राणवायु बाहर निकला हो या भीतर गया हो, जहाँ भी हो, वहीं उसकी गति रोक करके यह देखते रहना कि प्राण किस देश में रुके हैं, कितने समय तक सुखपूर्वक रुके रह सके हैं और इस समय प्राणों की स्वाभाविक गति की कितनी संख्या होती है। अभ्यास के बल से यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

उद्घात—एक प्राणायाम में जितना समय लगता है और उतने समय में जितने श्वास-प्रश्वास आ-जा सकते हैं, उस काल को 'उद्घात' कहते हैं।

छन्दोबद्ध सार

श्वास को निकाल प्राण रोका जाता बाहर जो
प्राणायाम 'बाह्य' प्राणायाम कहलाता है।
भीतर रुके तो 'आभ्यन्तर' कहाता, यदि
जहाँ-कहीं रोक दे, 'स्तम्भ' माना जाता है।
देश-काल-संख्या द्वारा नापा जाता प्राणायाम
साधक की सिद्धि में प्रगति बतलाता है।
दीर्घ और सूक्ष्म ज्यों-ज्यों होता जाता प्राणायाम
त्यों-त्यों वह निकट सफलता के आता है।

⊙ केवलकुम्भक प्राणायाम ⊙

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥51॥

शब्दार्थ—बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी = बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायाम के विषय को दूर करने वाला अर्थात् उनकी स्थिति को हटाने वाला यह । चतुर्थः = चौथा प्राणायाम है ।

सूत्रार्थ—बाह्य प्रदेश वाले अर्थात् रेचक और आभ्यन्तर प्रदेश वाले अर्थात् पूरक का अतिक्रमण करने वाला चौथा प्राणायाम 'केवलकुम्भक' प्राणायाम है ।

देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः तथाभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः, उभयथा दीर्घसूक्ष्मः । तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयो-र्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः । तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृ-दारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वास-योर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेषः ॥51॥

(चौथे प्राणायाम 'केवलकुम्भक' की स्थिति तब आती है) जब देश, काल, संख्या द्वारा निर्दिष्ट, परीक्षित या अभ्यस्त बाह्य प्रदेशव्यापी रेचक प्राणायाम और उसी प्रकार अन्तःप्रदेशव्यापी पूरक प्रणायम (इस चौथे केवलकुम्भक प्राणायाम द्वारा) अतिक्रान्त (transcended) होते हैं अर्थात् आवश्यक नहीं रह जाते हैं । पूर्वोक्त दोनों प्रकार के प्राणायाम 'दीर्घ' अर्थात् दीर्घकाल व्यापी (घण्टों तक चलने वाले) 'सूक्ष्म' अर्थात् बहुत कम दूर तक श्वासगति द्वारा अनुभूयमान होने वाले होते हैं । रेचक और पूरक की भूमि अथवा अवस्था सिद्ध हो जाने पर (अभ्यास-पटुतापूर्वक श्वास खींचने और निकालने वाली इन) दोनों गतियों का पूर्ण निरोध ही चतुर्थ प्राणायाम 'केवलकुम्भक' है । तृतीय प्राणायाम अर्थात् 'सहितकुम्भक' में तो देश, काल-संख्यादि द्वारा अनालोचित, पूर्व काल में अनवधारित स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास गति का विच्छेद है, जो देश-कालादि के द्वारा परीक्षण किये बिना ही श्वास-प्रश्वास के गतिनिरोध रूप, एक ही बार में किया जा सकने वाला देश, काल और संख्या से अवधारित होता हुआ दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है अर्थात् सिद्ध होता है । इसके विपरीत यह चौथा 'केवलकुम्भक' नामक प्राणायाम तो पहले ही श्वास और प्रश्वास तथा देशादि द्वारा अवधारित या परीक्षित हो चुकने के कारण क्रमशः उभयाक्षेपपूर्वक अर्थात् रेचक और पूरक दोनों के अतिक्रम या त्यागपूर्वक श्वास-प्रश्वास की गति के सर्वथा विच्छेद रूप में सिद्ध होता है । यह अन्य कोटि के कुम्भक प्राणायाम से बढ़कर है, यही इसका वैशिष्ट्य है । (केवलकुम्भक प्राणायाम में रेचक-पूरक की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है) ।

योगदीपिका

पूर्वोक्त तीनों प्रकार के प्राणायामों में रेचक, पूरक और कुम्भक का आश्रय लेना होता है। देश, काल और उनमें संख्या की गणना द्वारा साधना को आगे बढ़ाने की बात कही गयी है। सूत्र में बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी नामक चौथे प्राणायाम का कथन है। इस प्राणायाम में वायु को न बाहर निकाला जाता है और भीतर भरा जाता है। तत्काल इच्छानुकूल रोक दिया जाता है, यही इसकी विशेषता है।

इसको अनायास होने वाले राजयोग प्राणायाम की संज्ञा दी जा सकती है। इसमें मन की चंचलता शान्त होने के कारण प्राणों की गति अपने-आप रुक जाती है, जबकि पहले बताये गये तीनों प्राणायामों में प्रयत्न द्वारा प्राणो की गति रोकने के हेतु दीर्घकालिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। विषयों से होने वाले मन के चांचल्य के त्याग द्वारा बिना प्रयास ही मन का एकाग्र होना इसकी विशेषता है।

देश—जब बाह्य प्राणायाम किया जाता है, तब प्राणवायु शरीर से बाहर होती है। उस समय बाहर निकाला हुआ प्राण जहाँ रहता है, वही उसका 'देश' है। जब प्राण अन्दर रोका जाता है, उस समय शरीर में जहाँ प्राण रहता है, वही उसका 'देश' है।

काल—प्राणायाम करने के समय जितने समय तक प्राण रोका जाय, उन क्षणों का नाम 'काल' है।

संख्या—बाहर या भीतर किये गये कुम्भक में जो प्राण का रुकना होता है, उस समय में सहज रूप से कितने श्वास-प्रश्वास आते-जाते हैं, इसकी गणना 'संख्या' है। 'देश' 'काल' 'संख्या' प्राणायाम विषयक पारिभाषिक पदावलियाँ हैं। प्राणायाम की सफलता की परीक्षा देश, काल, संख्या के आधार पर की जाती है। चतुर्थ प्राणायाम 'केवलकुम्भक' नाम से जाना जाता है। साधक के प्राण-विजय का परिचायक यही चौथा प्राणायाम है। ध्यातव्य है कि जिसे 'कुम्भक' या 'सहित कुम्भक' कहते हैं, उसे रेचक और पूरक की अपेक्षा रहती है, किन्तु इस चतुर्थ प्राणायाम जिसे 'केवलकुम्भक' कहते हैं, वहाँ रेचक या पूरक की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। 'केवलकुम्भक' विषय में ऋषि याज्ञवल्क्य का अभिमत द्रष्टव्य है—

> रेचकं पूरकं त्यक्त्वा यत्सुखं वायुधारणम्।
> प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥
> न मुञ्चति न गृह्णाति वायुमन्तर्बहिःस्थितम्।
> आपूर्यकुम्भवत्तिष्ठेत् केवलः स तु कुम्भकः ॥

छन्दोबद्ध सार

जिसमें न रेचक न पूरक जरूरी कहीं
ऐसे चौथे प्राणायाम को समक्ष लाता हूँ ।
राजयोग-जन्य साधना है जन्म देती इसे
बाहरी प्रयत्न अनावश्यक बताता हूँ ।
भिन्न तीनों प्राणायामों से चतुर्थ प्राणायाम
सूत्रकार का कथन सत्य समझाता हूँ ।
ध्यानमात्र से ही गति प्राणों की है रुक जाती
होती है निरुद्ध चित्त-वृत्ति बतलाता हूँ ।

⊛ प्राणायाम से लाभ ⊛

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥52॥

शब्दार्थ—ततः = उस (प्राणायाम के अभ्यास) से । प्रकाशवरणम् = प्रकाश (ज्ञान) का आवरण । क्षीयते = क्षीण हो जाता है ।

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश अर्थात् ज्ञान पर पड़ा हुआ अज्ञान का पर्दा क्षीण हो जाता है और ज्ञान का प्रकाश प्रकट होने लगता है ।

प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म, यत्तदाचक्षते—'महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्त' इति । तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्या-साद् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते । तथा चोक्तम्—'तपो न परं प्राणा-यामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्ये'ति ॥52॥

प्राणायाम के अभ्यास-परायण इस योगी के विवेक ज्ञान पर आवरण बन कर छाये हुए पापकर्म रूपी आच्छादन (प्राणायाम द्वारा) क्षीण हो जाते हैं । यह किस प्रकार होता है, उसे निम्न वाक्य में स्पष्ट किया गया है—"महामोहमय विषयवासना रूपी इन्द्रजाल से प्रकाशस्वरूप बुद्धि को आवृत कर वही कर्मसंस्कार उसे अन्य दुष्कर्मों में उलझाता है" । योगी का यह प्रकाशावरणभूत संसार में बाँधने वाला अशुभ कर्मसंस्कार प्राणायाम के अभ्यास से दुर्बल हो जाता है और प्रतिक्षण क्रमशः क्षीणत्व को प्राप्त करता जाता है । कहा भी गया है—"प्राणायाम से बढ़कर अन्य कोई श्रेष्ठ तपश्चर्या नहीं है; इससे मलों की शुद्धि और ज्ञान की दीप्ति होती है" ।

योगदीपिका

इस सूत्र में प्राणायाम का फल बताया गया है । साधक ज्यों-ज्यों प्राणायाम का अभ्यास करता जाता है, त्यों-त्यों उसके पाप-कर्म और संचित कर्म-संस्कार जो

उसके ज्ञान पर पर्दा डाले रहते हैं, क्षीण होने लगते हैं और ज्ञान का दिव्य प्रकाश प्रकट होने लगता है। इससे साधक को स्वरूप का ज्ञान होने लगता है तथा अविद्या-जनित भ्रान्तियाँ नष्ट होने लगती हैं। प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है। पंचशिखाचार्य ने कहा है—'तपो न परं प्राणायामात्'। महाराज मनु ने कहा है कि प्राणायाम से तन-मन के सारे मल जल जाते हैं। जैसे अग्नि से धौंके हुए स्वर्णादि धातुओं के मल जल जाते हैं, उसी प्रकार से प्राणायाम करने से इन्द्रियों के मल जल जाते हैं—

दह्यन्ते ध्मायमाननां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ (मनुस्मृति, 6:71)

मल ही रोग-शोक, पापदोष समस्त अनर्थों का मूल है।

छन्दोबद्ध सार

तन-मन हेतु प्राणायाम लाभकारी बड़ा
इससे विशेष लाभ होना बतलाते हैं।
जल जाते सारे मल तन-मन शुद्ध होता
अज्ञान के आवरण क्षीण पड़ जाते हैं।
आत्मतत्त्व ज्ञान भासमान होता है महान
दुर्विचार जाते सुविचार चले आते हैं।
प्राणायाम से बड़ा न और कोई तप, इसे
ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ तत्त्वज्ञानी समझाते हैं।

किञ्च ?

(प्राणायाम से) और क्या कुछ (लाभ) होता है—

⊛ प्राणायाम से दूसरा लाभ ⊛

धारणासु च योग्यता मनसः ॥53॥

शब्दार्थ—च = और। धारणासु = धारणाओं में। मनसः योग्यता = मन की योग्यता (हो जाती है)।

सूत्रार्थ—प्राणायाम के अभ्यास से मन में धारणाशक्ति आती है अर्थात् साधक मन को जहाँ चाहे वहाँ केन्द्रित कर सकता है।

प्राणायामाभ्यासादेव 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (यो.सू. 1:35)—इति वचनात् ॥53॥

प्राणायामों के अभ्यास से ही धारणशक्ति आती है। 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (1:34) सूत्र के इस वचनानुसार।

योगदीपिका

प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर जब प्राणगति अतिसूक्ष्म हो जाती है और श्वास-प्रश्वास का क्रम अनायास थम-सा जाता है, तब मन में धारणा की योग्यता आ जाती है। साधक जहाँ चाहे अपने मन को स्थिर कर सकता है। मन के स्थिर हो जाने पर मन की निरर्थक भाग-दौड़ रुक जाती है और सधा हुआ चित्त स्वलक्ष्य पर केन्द्रित होने लग जाता है।

छन्दोबद्ध सार

प्राण-साधना से जो होता लाभ दूसरा बतलाता।
धारणा-शक्ति के साथ पूर्ण एकाग्र चित्त है हो जाता॥

❁ प्रत्याहार के लक्षण ❁

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥54॥

शब्दार्थ—स्वविषय = अपने विषयों के साथ। असम्प्रयोगे = सम्बन्ध न होने पर। चित्तस्वरूपानुकार इव = चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा। इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों का। प्रत्याहारः = प्रत्याहार है।

सूत्रार्थ—इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप का अनुकरण-सा कर लेना 'प्रत्याहार' है।

स्वविषयसम्प्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते। यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति, निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येषः प्रत्याहारः ॥54॥

इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ संयोग न होने पर वे चित्त के स्वरूप का अनुकरण करने लग जाती हैं अर्थात् चित्त के निरुद्ध होने पर चित्त के समान इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं, इतर इन्द्रिय-जय के समान दूसरे उपाय की अपेक्षा नहीं रहती है। जिस प्रकार मधुमक्खियों की रानी के उड़ने पर उसके साथ अन्य मधुमक्खियाँ उड़ती हैं एवं बैठने पर बैठती हैं, उसी प्रकार चित्त का निरोध होने पर इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। यही 'प्रत्याहार' का स्वरूप है।

योगदीपिका

इन्द्रियों का अपने विषयों से विमुख होना 'प्रत्याहार' है। प्राणायाम के नियमित अभ्यास से जब चित्त में एकाग्रता बढ़ने लगती है और वह निरुद्ध हो जाता है, तब उस निरोध का अनुकरण इन्द्रियाँ भी करती हैं। वे अपने-अपने विषयों से विमुख होकर अन्तर्मुखी होने लगती हैं। उनकी स्वविषयों के प्रति यही विमुखता 'प्रत्याहार' है। इन्द्रियाँ चित्त की अनुगामिनी हैं। चित्त के चंचल होने पर चंचल और स्थिर होने पर स्थिर हो जाती हैं। भाष्यकार व्यास ने चित्त को मधुमक्खियों की रानी और इन्द्रियों को मधुमक्खियों की भाँति बताया है। जैसे मधुमक्खियाँ अपनी रानी मक्खी का अनुगमन करती हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ चित्त का अनुगमन करती हैं। मन सहित इन्द्रियो का वशीभूत होकर निरुद्ध होने का साधना में बड़ा महत्त्व है। इस प्रकार 'प्रत्याहार' का योगसाधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्याहार सिद्ध होने पर अनुचित खान-पान, दुर्व्यसन, दूषित विचार-व्यवहार सहजरूप से अनायास छूट जाते हैं।

छन्दोबद्ध सार

प्राणायाम-साधना में सिद्धि मिल जाती जब
तब चित्त में निरोध की अवस्था आती है।
आज्ञाकारी चित्त की हैं इन्द्रियाँ समस्त, अस्तु
अनुगामिनी बनी निरुद्ध बन जाती हैं।
होती हैं विमुख निज-निज विषयों में सभी
यही 'प्रत्याहार' की अवस्था कहलाती है।
साधना में दत्तचित्त होतीं चित्तवृत्तियाँ तो
चित्त को न विषयों की वासना सताती है।

⊛ प्रत्याहार का फल ⊛

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥55॥

शब्दार्थ—ततः = उस (प्रत्याहार) से। इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों का। परमा = परम। वश्यता = नियंत्रण।

सूत्रार्थ—उस प्रत्याहार के सिद्ध होने पर इन्द्रियाँ पूर्णरूप से नियंत्रित हो जाती हैं।

शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्। सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या। शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये। रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्। चित्तै-

काग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः । ततश्च परमा त्वियं वश्यता यच्चित्त-निरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥55॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे श्रीमद्व्यास-
भाष्ये साधनपादो द्वितीयः ॥2॥

कुछ लोग कहते हैं कि शब्दादि विषयों में न फँसना ही इन्द्रियजय है । आसक्ति ही व्यसन है, क्योंकि यह साधक को श्रेयमार्ग से दूर कर देती है । हाँ, शास्त्रानुकूल विषयोपभोग अनुचित नहीं है । कुछ लोगों का यह मत है कि स्वेच्छा से शब्दादि विषयों का भोग करना 'इन्द्रिय-जय' है । कुछ ऐसा कहते हैं कि राग-द्वेष से रहित होकर सुख-दुःख रहित शब्दादि विषयोपभोग ही इन्द्रिय-जय है । आचार्य जैगीषव्य का मत है कि चित्त की एकाग्रता होने के कारण विषय-भोग का अभाव ही इन्द्रिय-जय है । इसीलिए तो यह इन्द्रिय-जय श्रेष्ठ कहा गया है, जिसमें चित्त का निरोध होने पर इन्द्रियाँ स्वतः निरुद्ध हो जाती हैं । उससे एक-एक इन्द्रिय को वश में करने के लिए जो भिन्न-भिन्न प्रयत्न किये जाते हैं, उनकी आवश्यकता नहीं रह जाती है । प्रत्याहार-सम्पन्न योगिजन प्रयत्न-जन्य अन्य उपायों की अपेक्षा नहीं करते ।

योगदीपिका

'प्रत्याहार' के सिद्ध हो जाने पर योगाभ्यासी की इन्द्रियाँ पूर्णरूप से उसके वश में आ जाती हैं । इन्द्रियों की इस परमवश्यता के स्वरूप-निर्धारण में विभिन्न पक्ष व्यासभाष्य में प्रस्तुत किये गये हैं; यथा—

(1) कुछ लोगों का मत है कि शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन इन्द्रिय-विषयों में न फँसना ही इन्द्रिय-जय है । वही परमवश्यता है ।

(2) स्वेच्छापूर्वक योग्य विषय के आकर्षण में परतन्त्र होकर नहीं, विषयोपभोग ही परमवश्यता है, ऐसा कुछ लोगों का मत है ।

(3) कुछ का विचार है कि राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से विमुक्त होकर विषयोपभोग इन्द्रिय-जय अथवा परमवश्यता है ।

(4) आचार्य जैगीषव्य का मत है कि चित्त की परम एकाग्रता के कारण इन्द्रियों में विषय-भोग के प्रति स्वतः विरक्ति होना 'इन्द्रिय-जय' है । निरुद्ध चित्त के प्रभाव से इन्द्रियाँ स्वयं निरुद्ध हो जाती हैं, अतिरिक्त प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रह जाती है । यही इन्द्रियों की परमवश्यता है ।

इन पक्षों में इन्द्रिय-जय का क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है। परिपक्व रूप आचार्य जैगीषव्य के मत में है, जहाँ इन्द्रियों की परमवश्यता अपने चरमरूप में प्रस्तुत की गयी है। प्रत्याहार की सिद्धि के उपरान्त मन और इन्द्रियों की भाग-दौड़ स्वत: समाप्त हो जाती है। यह एक बड़ी उपलब्धि है।

छन्दोबद्ध सार

होता प्रत्याहार सिद्ध जब चित्त वशी बन जाता।
इन्द्रिय-जय का परमवश्यता रूप निखर कर आता॥
चित्त निरुद्ध शुद्ध तो इन्द्रिय पूर्ण वशी बन जाती।
दमन की न रहती आवश्यकता, स्वयं वश्यता आती॥

अष्टाङ्गयोग का संक्षिप्त निरूपण—'यम' अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और 'नियम' अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान के अन्तर्गत गीतोक्त युक्ताहार-विहार, कर्म और चेष्टा का समावेश होने से पूर्ण मानसिक स्वास्थ्य आता है। ऊर्जा के क्षरणकर्त्ता नकारात्मक विचारों का निरसन होकर समाधि के सोपान सत्त्वगुण के प्रकाश का विकास हो जाता है और मनोमल नष्ट हो जाते हैं। आसनों के अभ्यास से शरीर में लचीलापन और एक आसन में स्थिरतापूर्वक बैठने की क्षमता आती है। अंगों की अकड़ और जकड़ मिट जाने से असमय में बुढ़ापा नहीं आता है और आने पर कष्ट नहीं दे पाता है। प्राणायाम तो अष्टाङ्गयोग का सर्वस्व है। इसके द्वारा नस-नाड़ियों में संचित मल जिसे विजातीय द्रव्य (cholesterol) कहते हैं, जल जाता है तथा निर्बाध रक्तसंचार से स्वास्थ्य के साथ कोशिकाओं (cells) में पर्याप्त प्राणवायु पहुँचने से प्राणशक्ति पुष्ट होती है, कोशिकाओं का विनाश थम जाता है, चिरयौवन की प्राप्ति होती है। मस्तिष्क में पर्याप्त प्राणवायु पहुँचने और शुद्ध रक्त-संचार से मस्तिष्क की सुप्त शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं और जीवन धन्य हो जाता है। आरोग्य, आयुष्य, सुख-शान्ति, शक्ति, सौभाग्य अनायास आ जाते हैं। मनोनिग्रह और इन्द्रियनिग्रह सुख-साध्य हो जाते हैं। अष्टांगयोग कल्पवृक्ष है। एक बात ध्यान रखनी चाहिए कि वृक्ष तत्काल फल नहीं देता, उसका सिंचन और सुरक्षा आवश्यक है। अभ्यास-निरन्तरता और धैर्यपूर्वक साधना करने पर सफलता सुनिश्चित है। साधक को इस क्षेत्र में श्रीमद्भगवद्गीता के अर्थ सहित पाठ (श्लोकों) पर चिन्तन-मनन करने से इस कार्य में शीघ्र सफलता मिलेगी।

अथ विभूतिपादस्तृतीयः

उक्तानि पञ्च बहिरङ्गाणि साधनानि । धारणा वक्तव्या—

'साधनपाद' में योग के पाँच बहिरंग साधन बता दिये गये है । अब योग के तीन अन्तरंग साधनों में प्रथम साधन 'धारणा' का स्वरूप बताया जा रहा है—

⊛ धारणा का स्वरूप ⊛

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥1॥

शब्दार्थ—चित्तस्य देशबन्धः = (बाहर या शरीर के भीतर कहीं भी) किसी एक देश या वस्तु में चित्त को ठहराना । धारणा = धारणा है ।

सूत्रार्थ—चित्तवृत्ति को किसी एक देश (स्थान) में चाहे वह बहिर्जगत् से सम्बन्धित हो, चाहे शरीर के भीतरी या बाहरी प्रदेशों से सम्बन्धित हो, केन्द्रित करना 'धारणा' है ।

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्रे—इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥1॥

नाभिचक्र में, हृदयकमल में, शिरोभाग में स्थित दिव्यज्योति में, नासिकाग्र भाग में, जिह्वा के अग्र भाग आदि में अथवा बाह्य विषय में चित्त को केवल सात्त्विक वृत्ति से बाँधना 'धारणा' है ।

योगदीपिका

प्राणायामादि से शोधित निरुद्ध चित्तवृत्ति को किसी एक स्थान पर योगाभ्यासी को ठहराना चाहिए । वह स्थान चाहे नाभिचक्र, हृदयकमल या अन्य कोई भी भीतरी चक्र हो अथवा नासिकाग्र, भ्रूमध्य, जिह्वाग्र या शिरोभाग में स्थित दिव्यज्योति हो, अथवा सूर्य, चन्द्र, देवमूर्ति या अन्य कोई इच्छित प्रिय ध्येय वस्तु हो, चित्त को स्थिर कर देना चाहिए । यही 'धारणा' है ।

छन्दोबद्ध सार

प्राणायामादिक द्वारा जब चित्त शुद्ध हो जाये ।
चित्तवृत्तियाँ हों निरुद्ध, मन में निर्मलता छाये ॥
किसी अभिलषित वस्तु को चुन, वहाँ चित्त ठहराये ।
यही धारणा का स्वरूप, जिसको साधक अपनाये ॥

⊛ ध्यान का स्वरूप ⊛

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥2॥

शब्दार्थ—तत्र = वहाँ (जहाँ चित्त को हठराया जाय) (उसी में) प्रत्यय-एकतानता = चित्तवृत्ति का एकतार चलना । ध्यानम् = ध्यान है ।

सूत्रार्थ—जहाँ जिस वस्तु पर चित्त को ठहराया जाय, वहाँ निरुद्ध चित्तवृत्ति का अजस्त्र अखण्ड प्रवाह ही 'ध्यान' है ।

तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥2॥

उस धारणा विषयक प्रदेश में, ध्येय रूपी आलम्बन वाले प्रदेश में ज्ञान की एकरूपता अर्थात् एक समान प्रवाह बना रहे तथा उसके मध्य किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान आकर न मिलने पाये, वह ध्यान है ।

योगदीपिका

धारणा नामक योगांग में जिस विषय पर चित्तवृत्ति टिकायी गयी है, उस विषय पर बिना किसी विक्षेप के अटूट तैलधारा के समान अखण्ड अजस्त्ररूप में चित्तवृत्ति का प्रवाहित होते रहना 'ध्यान' है । एकतार प्रवाह के मध्य ध्येय वस्तु के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु ध्यान-प्रक्रिया में नहीं आनी चाहिए । 'घट' पर चित्तवृत्ति टिकी हो तो घट-ही-घट का रूप आना चाहिए, अन्य का नहीं ।

छन्दोबद्ध सार

जिस अभिलषित विषय पर साधक चित्तवृत्ति ठहराये ।
टिकी उसी पर रहे चित्त की वृत्ति न अनत सिधाये ॥
मिले न अन्य भावना कोई ध्येय व्याप्त रह जाये ।
यही चित्त की वृत्ति अखण्डित ध्यानयोग कहलाये ॥

⊛ समाधि का स्वरूप ⊛

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥3॥

शब्दार्थ—तद् एव = वह ध्यान ही (ध्येय-विषयक ज्ञान ही) । अर्थमात्रनिर्भासम् = केवल ध्येय वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला होकर । स्वरूपशून्यम् इव = स्वरूप से शून्य हुआ जैसा । समाधिः = समाधि है ।

सूत्रार्थ—वह ध्यान ही प्रगाढ़ होकर समाधि बन जाता है । जब उस ध्यान में केवल ध्येय अर्थमात्र से उद्भासित होता है और उस ध्यान का स्वरूप शून्य-जैसा हो जाता है ।

ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ॥3॥

वह ध्यान ही केवल ध्येय के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला होकर अपने ज्ञानात्मक स्वरूप से शून्य-सदृश होने पर 'समाधि' कहा जाता है ।

योगदीपिका

ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव-सा हो जाता है और तब ध्येय से पृथक् उसकी सत्ता नहीं रह जाती है; ऐसे ध्यान का ही नाम 'समाधि' है अर्थात् ध्यान का ही प्रगाढ़ और सूक्ष्मरूप समाधि है । ध्येय विषयक चित्त की अधिकाधिक तल्लीनता 'समाधि' है । ध्याता, ध्यान, ध्येय की त्रिपुटी की एकरूपता 'समाधि' है । महाराज भोज 'समाधि' का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

'सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः' ।

अर्थात् जहाँ विक्षेपों को हटाकर मन को भलीभाँति एकाग्र किया जाता है, वह 'समाधि' है ।

योग के अन्तिम तीनों अंगों—धारणा, ध्यान समाधि में समाधि अंगी हैं और धारण-ध्यान उसके अंग हैं । जब किसी विषय में चित्त को ठहराया जाता है, तब चित्त की वह वृत्ति 'धारणा' है । जब चित्तवृत्ति में ध्येय विषय को छोड़कर विक्षेप रूप में विरोधी अन्य वृत्ति न मिले तब 'ध्यान' है और जब ध्याता और ध्यान की पृथक् सत्ता न रह जाये, केवल ध्येय के स्वरूप का ही भान होता रहे, तब वह 'समाधि' की अवस्था है । उदाहरणार्थ भगवान् सूर्य का ध्यान योगाभ्यासी करता है, इस स्थिति में जब वह सूर्य के स्वरूप को अपने चित्त में धारण करता है, तब धारणा; जब सूर्य के अतिरिक्त अन्य दूसरी वस्तु का रूप न आये तथा उस समय चित्तवृत्ति का सतत एकरूप प्रवाह स्थिर बना रहे तब वह ध्यान और जब मात्र सूर्य का स्वरूप ही ध्यान में रह जाये तथा और सब-कुछ जैसे अपनी सत्ता खो-सी बैठे, जैसे और कुछ रह ही न गया हो यह अवस्था 'समाधि' की है । यहाँ मात्र ध्येय शेष रहता है ।

समाधि का स्वरूप बहुत-कुछ पिछले सूत्रक्रम तीन में स्पष्ट हो गया है । समाधि के विषय में कुछ लोगों ने भ्रान्तियाँ फैला रखी हैं, जिससे जिज्ञासु भ्रम में पड़ जाते है । कुछ लोगों की दृष्टि में समाधि वह स्थिति है, जब भूमि में गड्ढा खोदकर उसमें सप्ताह-दो-सप्ताह, बिना श्वास लिये, बिना खाये-पिये पड़े रहा जाय । अस्तु, इस सूत्र से स्पष्ट हो गया है कि ध्यान की प्रगाढ अवस्था ही समाधि है । इस अवस्था में श्वास-प्रश्वास इतना सूक्ष्म हो जाता है कि वह पकड़ के बाहर होता है । हो सकता है कि चयापचय (metabolism) की क्रिया रुक जाती हो, शारीरिक क्रियाएँ रुकी

रहती हैं, अस्तु समाधि अवस्था में बिना खाये-पिये बहुत समय तक रहा जा सकता है। यह क्रिया साधनासाध्य है, देश-जाति-काल से इसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक सात्त्विक साधक इसका अधिकारी है।

छन्दोबद्ध सार

धारणा औ ध्यान का स्वरूप समझा चुका हूँ
अब मैं समाधि का स्वरूप बतलाता हूँ।
ध्यान ही समाधि बन जाता जब ध्याता चित्त
ध्येयाकार रूप धार लेता, बतलाता हूँ।
ध्येय के अलावा अन्य कुछ न दिखाता उसे
तल्लीनता का रूप चरम बताता हूँ।
कैवल्य की जन्मभूमि है यही समाधि दिव्य
योगशास्त्र का कथित सत्य प्रकटाता हूँ।

तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः—

वे ये धारणा, ध्यान, समाधि तीनों का एकत्र हो जाना अर्थात् एक ही ध्येय पर टिक जाना 'संयम' है।

⊛ 'संयम' का स्वरूप ⊛

त्रयमेकत्र संयमः ॥4॥

शब्दार्थ—त्रयम् = तीनों (धारणा, ध्यान, समाधि) का। एकत्र = एक साथ होना। संयमः = संयम है।

सूत्रार्थ—धारणा, ध्यान, समाधि—इन तीनों योगांगों का किसी एक विषय में केन्द्रित हो जाना 'संयम' है।

एकविषयाणि त्रीणि साधनानि 'संयम' इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥4॥

ध्यान विषयक किसी एक वस्तु या विषय पर जब धारणा, ध्यान, समाधि—ये तीनों योगांग केन्द्रित हो जाते हैं, तब इनका मिलित रूप 'संयम' कहा जाता है। 'संयम' एक शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है।

योगदीपिका

धारणा, ध्यान, समाधि—ये तीनों योगांग जब किसी एक ध्येय वस्तु पर टिकाये जाते हैं, तब इस योग के प्रयोग को 'संयम' कहा जाता है। यह 'संयम'

शब्द योग-विषयक एक शास्त्रीय पारिभाषिक पद है । जहाँ-कहीं योग-विषयक चर्चा में यह शब्द आये, उसे पूर्वोक्त रूप में समझना चाहिए । सृष्टि के सूक्ष्म रहस्य भारतीय योगियों ने इसी 'संयम' के सहारे प्राप्त किये थे । 'लिण्डा जान्सन' नामक पाश्चात्य वैज्ञानिक ने 'Yoga at the Speed of Light' नामक अपने लेख में 'संयम' की शक्ति द्वारा सूक्ष्म वैज्ञानिक रहस्यों को भारतीय योगियों द्वारा जान लेने की क्षमता के सत्य को स्वीकार किया है । (देखें—सम्भाषण-सन्देश पत्रिका, अगस्त 2010, पृ. 16) । यह 'संयम' वह अन्तर्दृष्टि है, जिसके प्राप्त हो जाने पर ब्रह्माण्ड हस्तामलकवत् बोधगम्य हो जाता है ।

छन्दोबद्ध सार

धारणा, ध्यान, समाधि सभी मिल एक विषय पर जब टिक जाते ।
कहा इसे 'संयम' जाता है, शक्ति अलौकिक साधक पाते ॥

⊛ 'संयम' का फल ⊛

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥5॥

शब्दार्थ—तत् जयात् = उस (संयम) पर विजय पाने से । प्रज्ञा-आलोकः = प्रज्ञा का प्रकाश होता है ।

सूत्रार्थ—जब 'संयम' सिद्ध अर्थात् परिपक्व हो जाता है, तब साधक में अलौकिक प्रज्ञा का प्रकाशोदय होता है ।

तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोकः । यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति ॥5॥

उस संयम पर विजय प्राप्त कर लेने पर समाधि प्रज्ञा का आलोक = विस्तार होता है । जैसे-जैसे 'संयम' शक्ति पुष्टतर होती जाती है, वैसे-वैसे समाधि प्रज्ञा निर्मलतर अथवा बलवत्तर होती जाती है ।

योगदीपिका

इस सूत्र में 'संयम'-सिद्धि का फल बताया गया है । धारणा, ध्यान, समाधि के साथ 'संयम' शक्ति का ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है, साधक में असाधारण दिव्य शक्तियों का अवतरण होता जाता है । सामान्य मनुष्य की शक्ति सामान्य होती है, किन्तु जब मनुष्य में अन्तश्चेतना का विकास हो जाता है तब उसकी बुद्धि अलौकिक सामर्थ्य से सम्पन्न हो जाती है । चेतना के इस लोकोत्तर विकास से उत्पन्न बुद्धि को 'प्रज्ञा' कहते हैं । जब साधक का 'संयम' सिद्ध हो जाता है, तब उसमें इस

समाधि-प्रज्ञा का प्रखर प्रकाश फैलता है, जिसके आलोक मे वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, दूर-से-दूर को भी स्पष्ट देख सकता है। वह अलौकिक शक्तियो का स्वामी बन जाता है।

छन्दोबद्ध सार

धारणा-ध्यान-समाधि-सिद्ध 'संयम' का जब होता सुविकास।
तब साधक में उस निर्मल प्रज्ञा का होता पूर्ण प्रकाश॥
उस प्रज्ञा-प्रकाश में कुछ अदृश्य नहीं रह जाता है।
जो अज्ञात, असम्भव, उसका भी दर्शन वह पाता है॥

⊛ 'संयम' का योगभूमियों पर क्रमशः प्रयोग ⊛

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥6॥

शब्दार्थ—तस्य = उसका—'संयम' का। भूमिषु = योगभूमियों में या अवस्थाओं में। विनियोगः = प्रयोग करना चाहिए।

सूत्रार्थ—उस 'संयम' का विनियोग साधक को विभिन्न योग-भूमियों में क्रमशः करना चाहिए। साधक को स्थूल से सूक्ष्म की ओर गतिशील होना चाहिए।

तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः। न ह्यजिताधरभूमिरनन्तरभूमिं विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते। तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः? ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः। कस्मात्? तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात्। भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः। कथम्? एवं ह्युक्तम्—

'योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्' ॥ इति ॥6॥

संयम के द्वारा जो भूमि (stage) जीत ली गयी हो, उसके बाद की अगली भूमि में संयम का प्रयोग करणीय है। जिन्होंने निम्न भूमि को नहीं जीता, वे उसके ठीक बाद वाली भूमि को लाँघकर (एक बारगी) अत्युच्च भूमियों (stages) पर संयम करने के अधिकारी नहीं हैं। ऐसा न हो सकने पर प्रज्ञा-प्रकाश की प्राप्ति कैसे हो सकती है? परमात्मा की कृपा (ईश्वरप्रणिधान) से जिन्होंने उत्तर भूमि को जीत लिया है, उनके लिए पर चित्तादि-ज्ञानरूप निम्न भूमियों में संयम करना उपयुक्त नहीं है। क्यों? (उत्तर है कि) उस प्रयोजन के संयम से भिन्न उपाय (ईश्वरानुग्रह) से ही सिद्ध हो जाने के कारण। इस भूमि (stage) के अनन्तर योगाभ्यास की (अगली) यह भूमि

हैं, इस विषय में स्वयं योग का अभ्यास ही गुरु या मार्गदर्शक है । यह कैसे ? क्योंकि ऐसा (आप्तवाक्य रूप में) कथित है—

"योग द्वारा योग को जानना चाहिए । योग, योग से आगे बढ़ता है । योगाभ्यास में जो अप्रमत्त (असावधान) नहीं हैं, वह योग में चिरकाल तक रमण करता है अर्थात् आनन्दानुभव करता है" ।

योगदीपिका

इस सूत्र मे बताया गया है कि जब किसी साधक का उक्त संयम सिद्ध हो जाये, तो उसका प्रथम प्रयोग स्थूल विषय पर करना चाहिए । पूर्व में दृढ़ता आ जाने पर फिर उससे सूक्ष्म और फिर उससे भी सूक्ष्म, इस प्रकार उसकी योग-यात्रा स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और फिर सूक्ष्मतम विषयों की ओर गतिशील रहनी चाहिए । एक-एक सीढ़ी क्रम से चढ़ने पर लड़खड़ाने का भय नहीं रहता है । कुशल धनुर्धर पहले स्थूल पर निशाना साधता है, पुनः शनैः-शनैः सूक्ष्म के लक्ष्य-वेध का अभ्यास करता है । ईश्वरानुग्रह इस विषय में अपवाद हैं, ऐसी स्थिति में साधक को बिना नियमित साधना के ही सिद्धि मिल जाती है ।

ईश्वरप्रणिधान से योगी को ईश्वर ज्ञान प्रदान करता है । ईश्वरानुकम्पा से उसे अग्रिम योगभूमियों की उपलब्धि होती जाती है । योग की उत्कर्ष-प्राप्त भूमियों या अवस्थाओं (stages) में साधक का स्वयं का अनुभव प्रशिक्षक का कार्य करता है । 'योग एव उपाध्यायः' ऐसा कथित है । चित्त किस योग्यता वाला है, इसका ज्ञान योगाभ्यासी को स्वयं योग दे देता है ।

निष्कर्षतः धारणा, ध्यान, समाधि तीनों एक ही 'संयम' रूप क्रिया के अंग हैं । किसी विषय में चित्त को ठहराने का नाम 'धारणा' है । जब निरन्तर देर तक बिना विक्षेप के ध्येय पर चित्त ठहरा रहे, तब वही धारणा 'ध्यान' बन जाती है और जब वही ध्यान इतना प्रगाढ़ और सूक्ष्म तथा तल्लीनता पूर्ण हो जाता है कि ध्यान करने वाले को ध्येय विषय के अतिरिक्त और किसी की भी सुध-बुध नहीं रह जाती है, तब वही ध्यान की अवस्था बढ़कर 'समाधि' बन जाती है ।

छन्दोबद्ध सार

संयम दृढ़ हो जाये तब साधक उपाय अपनाये ।
पहले स्थूल वस्तु को वह संयम का विषय बनाये ॥
क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म भूमियों पर प्रयोग आजमाये ।
अन्तिम लक्ष्य-प्राप्ति हित क्रमशः आगे बढ़ता जाये ॥

⊛ सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग साधन, धारण, ध्यान, समाधि ⊛

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥7॥

शब्दार्थ—त्रयम् = ये तीन। अन्तरंगम् = निकटतम साधन हैं। पूर्वेभ्यः = पहले की अपेक्षा।

सूत्रार्थ—साधनपाद में बताये गये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार इन पाँच योग के बहिरंग साधनों की अपेक्षा ये तीन—धारणा, ध्यान, समाधि सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग अर्थात् निकटतम साधन हैं।

तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं सम्प्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्य इति ॥7॥

वह यह (धारणा, ध्यान, समाधि) तीनों यमादि की अपेक्षा 'सम्प्रज्ञात समाधि' के अन्तरङ्ग साधन हैं।

योगदीपिका

इस सूत्र में धारणा, ध्यान और समाधि को सम्प्रज्ञात समाधि का निकटस्थ साधन बताया गया है। साधनपाद में वर्णित यम, नियन, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार को योग का बहिरंग साधन वर्णित किया गया है। जो कार्य की सिद्धि में दूर से सहायक हो, वह बहिरंग और जो निकट से सहायक हो, वह अन्तरंग साधन है। यम-नियमादि दूर से सहायक हैं, इसलिए वे सम्प्रज्ञात समाधि के बहिरंग और धारणा-ध्यान-समाधि निकटस्थ सहायक हैं, अस्तु वे सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग सहायक हैं। इसीलिए अन्तिम तीनों का, प्रथम पाँचों से पृथक् 'विभूतिपाद' में वर्णन किया गया है।

गुरु गोरक्षनाथ ने यम-नियमों को योग न मानकर आचरण सम्बन्धी नियम बताया है, जो सामान्य जनोपयोगी है। इसलिए वे षडंग योग (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) को ही योगांग मानते हैं। कुछ अन्तिम तीनों को ही सच्चा योगांग मानकर साधना करते हैं। पूर्व के यम-नियमादि पाँचों अंगों को कायिक साधना से सम्बद्ध मानते हैं। चित्त से सम्बन्धित मुख्य अन्तिम तीन साधन ही हैं।

छन्दोबद्ध सार

यमनियमासन औ प्राणायाम प्रत्याहार
प्रथम ये पाँचों योग अंग जो सुझाये हैं।
ये हैं बहिरंग योग अंग सिद्धि साधना में
अधिक निकट इनको न बतलाये हैं।

इनकी अपेक्षा ध्यान-धारणा-समाधि तीनों
सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग पाये हैं।
सन्निकट आते, सिद्धि शीघ्र दिलवाते, अस्तु
अन्तरंग इन्हें सूत्रकार कह आये हैं।

⊛ संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) निर्बीज समाधि का बहिरंग ⊛

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥8॥

शब्दार्थ—तदपि = वे भी। निर्बीजस्य = असम्प्रज्ञात समाधि के। बहिरंगम् = बहिरंग साधन हैं।

सूत्रार्थ—वे पूर्वोक्त धारणा, ध्यान, समाधि भी 'असम्प्रज्ञात' समाधि के लिए बहिरंग साधन हैं।

तदप्यन्तरङ्गं साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरङ्गं भवति। कस्मात्? तदभावे भावादिति ॥8॥

वे अन्तरंग धारणा, ध्यान, समाधि नामक तीनों साधन निर्बीज समाधि के बहिरंग साधन हैं। प्रश्न उठता है क्यों ? क्योंकि उनका अभाव होने पर निर्बीज समाधि सिद्ध होती है।

योगदीपिका

ये धारणा, ध्यान, समाधि जिनका मिलित नाम 'संयम' है; ये सम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सबीज समाधि के तो अन्तरंग हैं, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि या निर्बीज समाधि के बहिरंग अर्थात् दूर से उपकारी हैं, सन्निकट के नहीं। जैसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पाँचों योग के अंग सम्प्रज्ञात समाधि के उपकारी तो हैं, किन्तु उतने निकट के उपकारी नहीं है, जितने कि धारणा, ध्यान, समाधि ये तीनों अंग हैं। अस्तु प्रथम पाँच बहिरंग साधन और अन्तिम तीन अन्तरंग साधन कहे गये। इसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि के क्षेत्र में धारणा, ध्यान, समाधि तीनों बहिरंग साधन हैं अर्थात् दूर से उपकार करने वाले हैं, निकटस्थ होकर असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि के कारण नहीं बन पाते। कारण है कि तब तक कर्म-संस्कार बीज रूप में बने रहते हैं और वे पुनः अंकुरित हो सकते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्वावस्था में विवेकख्याति उत्पन्न होती है, जिससे सारे अशुभ संस्कार भस्म हो जाते हैं, किन्तु अभी संस्कार वाला चित्त बना रहता है। साधना के और आगे बढ़ने पर परवैराग्य की उत्पत्ति होती है, जिसमें शुभ संस्कार से भी शून्य हृदय त्रिगुणातीत हो जाता है और चित्त अपने उपादान कारण प्रकृति में विलीन हो जाता है। संस्कार दग्धबीज

होकर अंकुरण-शक्ति खो बैठते हैं और 'निर्बीज समाधि' की सिद्धि होती है । इस प्रकार परवैराग्य निर्बीज समाधि का अन्तरंग साधन है और धारणा, ध्यान, समाधि उसके पूर्व की स्थिति सबीज या सम्प्रज्ञात समाधि लाने का कारण है, इसलिए सोपानवत् दूर से सहायक होने के कारण निर्बीज समाधि का बहिरंग साधन है । धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों के हट जाने पर असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि की सिद्धि होती है । बहिरंग और अन्तरंग होने के पीछे यह भी कारण है कि सम्प्रज्ञात समाधि में किसी ध्येय का आलम्बन लेकर उस पर चित्त को टिकाकर फिर स्थिरता को और प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर करने की आवश्यकता होती है, निर्बीज समाधि की अवस्था में किसी विषय का अवलम्बन नहीं लेना पड़ता । समाधि इच्छामात्र से तुरन्त अनायास लग जाती है । यही योग-साधना की अन्तिम अवस्था है । यहाँ संयम की आवश्यकता नहीं रह जाती है ।

छन्दोबद्ध सार

बहिरंग बन जाते ध्यान, धारणा, समाधि
निर्बीज समाधि का स्वरूप जब आता है ।
सारे संस्कार दग्धबीज बन जाते, नया
संस्कार अंकुर निकल नहीं पाता है ।
चित्त निज कारण प्रकृति में विलीन होता
केवल पुरुष गुणातीत रह जाता है ।
भेद मिट जाता सारा ध्याता, ध्यान, ध्येय का है
एकरूप केवल स्वरूप दिखलाता है ।

अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्त-परिणामः ?

गुणों का स्वभाव चंचल है; अस्तु चित्त के निरोधकाल में चित्त का परिणाम किस रूप का होता है ? (इसका आगे के सूत्र में कथन है)

⊛ निरोध परिणाम का स्वरूप ⊛

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण-चित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥9॥

शब्दार्थ—व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः = व्युत्थान और निरोध संस्कारों का । अभिभवप्रादुर्भावौ = छिपना-प्रकट होना । निरोधक्षणचित्तान्वयः = निरोधकालिक

चित्त इन दोनो व्युत्थान-निरोध संस्कारों से युक्त होता हैं । निरोधपरिणामः = यह 'निरोध' परिणाम है ।

सूत्रार्थ—व्युत्थान संस्कारों का दबना और निरोध संस्कारों का उभरना—यह निरोधकालिक चित्त में होने वाला 'निरोध परिणाम' है ।

व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः । निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्माः, तयोरभिभवप्रादुर्भावौ । व्युत्थान-संस्कारा हीयन्ते, निरोधसंस्कारा आधीयन्ते । निरोधक्षणं चित्तमन्वेति । तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः । तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम् ॥9॥

व्युत्थान संस्कार चित्त के धर्म हैं । वे प्रत्यय (ज्ञान) स्वरूप नहीं होता है अतः 'प्रत्यय' के निरोध से वे निरुद्ध नहीं होते हैं । समस्त निरोध संस्कार भी चित्त के धर्म हैं । उनके अभिभव और प्रादुर्भाव का अर्थ है—व्युत्थान संस्कारों का क्षीण होना और निरोध संस्कारों का संचित होना । निरोधावसर स्वरूप चित्त में यह परिणाम अन्वित रहता है । इसलिए एक चित्त का क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न संस्कारों वाला होना 'निरोधपरिणाम' कहलाता है । उस समय (निरोध-परिणाम के समय) चित्त निरोध-कालीन संस्कारमात्र शेष रह जाता है—यह तथ्य निरोध समाधि (योगदर्शन, सूत्र 1:18) में कथित है ।

योगदीपिका

इस सूत्र में 'निरोध परिणाम' का स्वरूप बताया गया है । चित्त का धर्म या स्वभाव वृत्तिमय है, चांचल्य है । 'एकाग्र' चित्तभूमि पर उदित सम्प्रज्ञात समाधिकाल में क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त नामक चित्तभूमि पर उभरते संस्कार या विचार व्युत्थान-कालिक संस्कार या विचार हैं । जब असम्प्रज्ञात समाधि की उत्कृष्टतम 'निरोध' अवस्था निकट आती है, तब भी सम्प्रज्ञात समाधि काल के विचारों के संस्कार (impression) सूक्ष्म रूप में बने रहते है, वे दग्धबीज नहीं हो पाते, इसलिए वे भी निर्बीज समाधि काल की अवस्था में व्युत्थान संस्कार कहे जाते हैं अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधिकाल भी असम्प्रज्ञात समाधि के क्षेत्र में व्युत्थान काल है, क्योंकि सम्प्रज्ञातकाल में वहाँ से भी साधना द्वारा आगे उठने की आवश्यकता बनी रहती है । संस्कार चित्त के धर्म हैं । चित्त धर्मी है । धर्मी अपने धर्म में वैसे ही व्याप्त रहता है, जैसे पट में सूत्र और घट में मृत्तिका । इसलिए सबीज समाधि में भी निरोध संस्कार तब तक उभरते-दबते रहते हैं, जब तक निर्बीज समाधि में वे दग्धबीज नहीं हो जाते है, क्योंकि सबीज समाधि में चित्तवृत्तियों का तो अभाव हो जाता है, किन्तु संस्कारों के बीज विद्यमान रहते हैं । अन्त में जब 'विवेकख्याति' ज्ञान की एक अवस्था विशेष द्वारा वे संस्कार बीज भी नष्ट हो जाते हैं और अपना कार्य समाप्त कर वह

विवेकख्याति भी लुप्त हो जाती है और चित्त अपने कारण प्रकृति में सदा के लिए विलीन हो जाता है और जब गुणातीत पुरुष की शुद्ध सत्ता ही विद्यमान रहती है, तब जो अवस्था आती है, वही 'निरोध परिणाम' है। वही कैवल्य है, वही साधक की साधना की उत्कृष्टतम उपलब्धि है।

छन्दोबद्ध सार

समाधि का पूर्वकाल 'व्युत्थान' है, जानो, यहाँ
संस्कार दबते-उभरते दिखाते हैं।
जब पूर्ण शुद्ध औ निरुद्ध चित्तवृत्ति होती
संस्कार के समस्त बीज जल जाते हैं।
निर्बीज समाधि-काल में निरोध होता जो है,
परिणाम सहित स्वरूप बतलाते हैं।
चित्त निज कारण प्रकृति में विलीन होता
केवल पुरुष रह जाता, मुक्ति पाते हैं।

⊙ निरोध परिणाम वाले चित्त की स्थिति ⊙

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥10॥

शब्दार्थ—संस्कारात् = संस्कार बल से। तस्य = उस (चित्त) की। प्रशान्तवाहिता = प्रशान्तवाहिता (स्थिति) होती है।

सूत्रार्थ—निरोध संस्कार-बल से चित्त की गति प्रशान्त होती है।

निरोधसंस्काराद् निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति। तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मः संस्कारोऽभिभूयत इति ॥10॥

निरोध संस्कार के अभ्यास की पटुता से चित्त में प्रशान्तवाहिता स्थिति होती है। यदि यह निरोध-संस्कार मन्द होता है, तो व्युत्थान-संस्कार द्वारा निरोध-संस्कार अभिभूत होता है अर्थात् दब जाता अथवा निर्बल पड़ जाता है।

योगदीपिका

इस सूत्र में निरोध परिणाम वाले चित्त की स्थिति का कथन है। जब योगाभ्यास करते-करते व्युत्थानकाल के संस्कार दब जाते हैं और चित्तवृत्ति-निरोध जन्य 'संस्कार' प्रबल पड़ जाते हैं, तब निरोध संस्कार की प्रबल निर्मल सुख-शान्ति-दायिनी धारा चित्त में प्रवाहित होने लगती है। यह निरुद्ध चित्त का अवस्था-परिणाम

है । साधक को चाहिए कि वह निरोध संस्कारों को निर्बल न होने दे । सतत अभ्यास द्वारा उन्हें प्रबल करता जाये । यदि ऐसा न हो सका तो व्युत्थानकालिक संस्कार के दबे बीज पुनः अंकुरित होकर छा जायेंगे और साधक योगभ्रष्ट हो जायेगा । प्रबल निर्बल को दबा देता है, यह प्रकृति का नियम है, अस्तु निरोध संस्कारों को साधक पूर्व कथित उपायों द्वारा नित्य सबल बनाता जाये ।

छन्दोबद्ध सार

जब निरोध के संस्कार हैं परम प्रबल हो आते ।
व्युत्थान-काल के बाधक सारे, संस्कार दब जाते ।।
बहती है साधक-उर में शुचि प्रबल शान्ति की धारा ।
पाप-ताप का विकट रूप होता विनष्ट है सारा ।।
अस्तु निरोध के संस्कार निर्बल न पड़ने पायें ।
व्युत्थानकाल के संस्कार बन प्रबल न उन्हें दबायें ।।

⊛ चित्त का समाधि-परिणाम ⊛

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ।।11।।

शब्दार्थ—सर्वार्थता-एकाग्रतयोः = सर्वार्थता (सभी विषयों की ओर उन्मुख होना) और एकाग्रता का । क्षय-उदयौ = क्षय और उदय होना । चित्तस्य = चित्त का । समाधिपरिणामः = समाधि परिणाम है ।

सूत्रार्थ—चित्त में सभी विषयों की ओर दौड़ने की अर्थात् अनेकाग्रता की स्थिति का तिरोभाव और एकाग्रता का प्रादुर्भाव होना चित्त का 'समाधिपरिणाम' है ।

सर्वार्थता चित्तधर्मः । एकाग्रताऽपि चित्तधर्मः । सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः । एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः । तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तम् । तदिदं चित्तमपायोपजननयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते, स चित्तस्य समाधिपरिणामः ।।11।।

सर्वार्थता अर्थात् समस्त विषयों की ओर उन्मुख होना (अनेकाग्रता) चित्त का धर्म है (साथ ही) एकाग्रता भी चित्त का धर्म है । सर्वाथता का क्षय अर्थात् तिरोभाव और एकाग्रता का उदय अर्थात् आविर्भाव होना, ऐसा अर्थ इन शब्दों से प्रकट होता है । उन दोनों—सर्वाथता एव एकाग्रता धर्मों के साथ चित्त धर्मीरूप में अनुगत रहता हे । तिरोभाव और आविर्भाव रूप अपने में भावित सर्वार्थता एवं एकाग्रता धर्मों के साथ अनुगत रहने वाला यह चित्त समाहित होता है, जो चित्त का 'समाधि परिणाम' है ।

योगदीपिका

चंचलता और एकाग्रता दोनों ही चित्त में होते हैं । ये दोनों चित्त के गुण-धर्म हैं । चित्त इनका आधार अथवा धर्मी है और ये दोनों उसके धर्म हैं अथवा विशेषताएँ हैं । एकाग्रता का अर्थ एक विषय में संचार करना और सर्वार्थता का अर्थ सभी विषयों में संचार करना है । इस प्रकार इन सभी अवस्थाओं में चित्त क्रियाशील रहता है । चाहे एक में हो चाहे अनेक में हो । तथापि चित्त जब एक में संचार करे या एकाग्र हो तो वह सम्प्रज्ञात समाधि हुई और चित्त की यह एकाग्रता 'समाधि परिणाम' है । इस प्रकार चित्त से अनेक विषयोन्मुखता का तिरोभाव और एक विषय का प्रादुर्भाव होता है । इस तथ्य को इस प्रकार कह सकते हैं—निरोध-समाधि के पहले जब साधक का सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है, उस समय चित्त की विक्षिप्तावस्था का क्षय होकर एकाग्रावस्था का उदय होता है । निर्वितर्का सम्प्रज्ञात समाधि में साधक को मात्र ध्येय वस्तु का ध्यान रहता है, वह चित्त के निज स्वरूप तक का ध्यान भूल सा जाता है (समाधिपाद 1:43) । इस प्रकार चित्त का विक्षिप्तावस्था से एकाग्रावस्था में परिणत हो जाना 'समाधिपरिणाम' है ।

छन्दोबद्ध सार

चित्त में ही राग औ विराग दोनों रहते हैं
वहीं अनेकाग्रता, एकाग्रता का वास है ।
चित्त ही एकाग्र और वही अनेकाग्र होता
दोनों का निवास यही एक चित्त खास है ।
नाना ओर जाना छोड़ जाता एक ओर चित्त
होता निर्वितर्का समापत्ति का विकास है ।
चित्त का 'समाधि परिणाम' यही एकाग्रता
होता अनेकाग्रता का जब पूर्ण नाश है ।

❁ चित्त का एकाग्रता-परिणाम ❁

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ
चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥12॥

शब्दार्थ—ततः पुनः = उस स्थिति के पश्चात् । शान्त-उदितौ = शान्त और उदित हुए । तुल्यप्रत्ययौ = समान ज्ञान । चित्तस्य = चित्त का । एकाग्रता-परिणामः = एकाग्रता परिणाम है ।

सूत्रार्थ—चित्त के समाधि परिणाम के पश्चात् एक ही वस्तुविषयक समान ज्ञानों के शान्त होने फिर उदित होने का जो क्रम चित्त मे चलता रहता है, वह चित्त का 'एकाग्रता परिणाम' है ।

समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त उत्तरस्तत्सदृश उदितः । समाहित-चित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैवाऽऽसमाधिभ्रेषादिति । स खल्वयं धर्मिण-श्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥12॥

समाहित चित्त (सम्प्रज्ञात-समाधिलब्ध चित्त) का पूर्वकालिक ज्ञान शान्त हो जाता है । तदुपरान्त उसी प्रकार का ज्ञानोदय होता चलता है । दोनों धर्मों के साथ अनुगत वह समाहित चित्त समाधि के भंग होने तक उसी प्रकार एकाग्र स्थिति में रहता है । वह धर्मी चित्त का 'एकाग्रता परिणाम' है ।

योगदीपिका

इस सूत्र में चित्त का 'एकाग्रता परिणाम' बताया गया है । इसमें 'समाधि परिणाम' के पश्चात् होने वाली अपेक्षातर अधिक परिष्कृत समाधि की स्थिति का ज्ञान कराया गया है । जब चित्त विक्षिप्त अवस्था से एकाग्र-अवस्था में प्रवेश करता है, उस समय चित्त का जो परिणाम या परिर्वतन होता है, उसका नाम 'समाधि परिणाम' है । जब चित्त भली प्रकार समाहित हो चुका होता है, तत्पश्चात् जो परिणाम चित्त में होता है, उसे 'एकाग्रतापरिणाम' कहते हैं । इस स्थिति से चित्त में शान्त होने वाली वृत्ति और उसके पश्चात् उदित होने वाली वृत्ति एक-सी रहती है । जो वृत्ति शान्त होती है, वही वृत्ति उदित भी होती है । दूसरी विपरीत वृत्ति का उदय नहीं होता है ।

जब चित्त (इस स्थिति के पूर्व सूत्रक्रम 11 में वर्णित) 'समाधि परिणाम' की स्थिति में रहता है, तब शान्त होने वाली और उदित होने वाली वृत्ति में भेद होता है । जो वृत्ति शान्त होती है, उसकी विरोधी विक्षेपकारिणी वृत्ति भी उभर सकती है, किन्तु 'एकाग्रता परिणाम' में वृत्ति-साम्य रहता है । जो वृत्ति शान्त होती है, ठीक वही वृत्ति पुनः उत्पन्न होती है, इतर नहीं । सम्प्रज्ञात समाधि की प्रथम अवस्था में 'समाधि परिणाम' होता है और उसकी परिपक्व-अवस्था में 'एकाग्रता परिणाम' होता है । यही 'समाधि परिणाम' और 'एकाग्रता परिणाम' में अन्तर है ।

छन्दोबद्ध सार

विक्षिप्त चांचल्यावस्था है समाप्त होती जब
योग भी 'समाधिपरिणाम' नाम पाता है ।
वृत्ति की विरोधी वृत्ति जाती और आती यहाँ
वृत्ति एक रूपता का रूप नहीं आता है ।

जब एक-जैसी वृत्ति शान्त हो उदित होती
एकरूपता का रूप चित्त दिखलाता है ।
'एकाग्रता परिणाम' वाली जो समाधि यह
परिपक्व समाधि है, शास्त्र बतलाता है ।

⊙ परिवर्तन के स्वरूप का निरूपण ⊙

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥13॥

शब्दार्थ—एतेन = इस (चित्त के परिणामों की व्याख्या) से । भूत-इन्द्रियेषु = भूतों और इन्द्रियों में । धर्म-लक्षण-अवस्था-परिणामा: = धर्मपरिणाम, लक्षण-परिणाम, अवस्थापरिणाम । व्याख्याता: = व्याख्यात जानने चाहिए ।

सूत्रार्थ—इस चित्त के परिणाम के निरूपण से पंचभूतों और इन्द्रियों में निरन्तर होने वाले धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम भी निरूपित हो गये ।

एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्मलक्षणावस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषु धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः । तत्र व्युत्थाननिरोधयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामः । लक्षणपरिणामश्च निरोधस्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः । स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नो, यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः, एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा । न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः । तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभिर्युक्तं वर्तमानं लक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नम्, एषोऽस्य तृतीयोऽध्वा । न चानागतवर्त्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तम् । एवं पुनर्व्युत्थानमुपसम्पद्यमानमनागतलक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तं वर्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नम् । यत्रास्य स्वरूपाभिव्यक्तौ सत्यां व्यापारः, एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा । न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तमिति । एवं पुनर्निरोध एवं पुनर्व्युत्थानमिति तथावस्थापरिणामः—तत्र निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति; एष धर्माणामवस्थापरिणामः । तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्माणां त्र्यध्वनां लक्षणैः परिणामो लक्षणानामप्यवस्थाभिः परिणाम इति ।

एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते । चलं च गुणवृत्तम्, गुणस्वाभाव्यं तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति । एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मधर्मिभेदात् त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः । परमार्थतस्त्वेक एव

परिणामः धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मो धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति । तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागतवर्त्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति न तु द्रव्यान्यथात्वम् । यथा सुवर्णभाजनस्य भित्त्वाऽन्यथाक्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति ।

अपर आह—'धर्मानभ्यधिको धर्मी, पूर्वतत्त्वानतिक्रमात्, पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्येन विपरिवर्त्तेत यद्यन्वयी स्यादिति । अयमदोषः । कस्मात् ? एकान्ततानभ्युपगमात् । तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति । कस्मात् ? नित्यत्वप्रतिषेधात् । अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् । संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यम् । सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति । लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः । तथाऽनागतोऽनागतलक्षणयुक्तो वर्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः । तथा वर्तमानो वर्त्तमानलक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यां लक्षणभ्यामवियुक्त इति । यथा—'पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवती'ति ।

अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगादध्वसङ्करः प्राप्नोतीति परैर्दोषश्चोद्यत इति । तस्य परिहारः—धर्माणां धर्मत्वमप्रसाध्यम् । सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोऽपि वाच्यो न वर्त्तमानसमय एवास्य धर्मत्वम् । एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात् क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति । किञ्च त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति सम्भवः । क्रमेण तु स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य भावो भवेदिति । उक्तञ्च—'रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते । सामान्यानि त्वतिशयैः सह सप्रवर्तन्ते' । तस्मादसङ्करः । यथा रागस्यैव क्वचित् समुदाचार इति न तदानीमन्यत्राभावः । किन्तु केवलं सामान्येन समन्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य भावः, तथा लक्षणस्येति । न धर्मी त्र्यध्वा । धर्मस्तु त्र्यध्वानः । ते लक्षिता अलक्षिताश्च तां तामवस्थां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्तेऽवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः, यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने । यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति ।

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः कैश्चिदुक्तः । कथम् ? अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वात् । यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदानागतो, यदा करोति तदा वर्तमानो, यदा कृत्वा निवृत्तस्तदातीत इत्येवं धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष उच्यते । नाऽसौ दोषः । कस्मात् ? गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात् । यथा संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनामेवं लिङ्गमादिमद्धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनाम् । तस्मिन्विकारसंज्ञेति । तत्रेदमुदाहरणम्—मृद्धर्मी पिण्डकाराद्धर्माद्धर्मान्तरमुपसम्पद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकार इति । घटाकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्तमानलक्षणं प्रतिपद्यत

इति लक्षणतः परिणमते । घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति । धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था, धर्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्थेत्येक एव द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शित इति । एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति । त एते धर्मलक्षणावस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून्विशेषानभिप्लवते । अथ कोऽयं परिणामः ? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः ॥13॥

इससे अर्थात् पूर्वोक्त (9 से 12) सूत्रों तक कथित चित्त के निरोध-परिणाम, समाधि-परिणाम, एकाग्रता-परिणाम के द्वारा भूतेन्द्रियों में धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम कहे गये हैं, यह जानना चाहिए । उनमें से व्युत्थान धर्म का अभिभव तथा निरोध धर्म का प्रादुर्भाव चित्तरूप धर्मी के 'धर्मपरिणाम' हैं ।

लक्षण परिणाम—निरोध तीन लक्षण अर्थात् तीन अध्वा (काल) या स्थिति से युक्त है । यह भविष्यत्कालिक अपनी प्रथम स्थिति को छोड़कर अपने धर्मत्व को सुरक्षित रखता हुआ वर्तमान स्थिति को प्राप्त हुआ जहाँ इसकी स्वरूप के द्वारा अभिव्यक्ति है । यह इस निरोध की दूसरी स्थिति है । यह वर्तमान स्थिति वाला निरोध भूत-भविष्य के लक्षणों से वियुक्त नहीं है । उसी प्रकार व्युत्थान भी तीन लक्षणों वाला या तीन अध्वाओं से युक्त है । वह वर्तमान अध्वा को छोड़कर, अपने धर्मत्व को सुरक्षित रखता हुआ अतीत लक्षण से सम्पन्न होता है—यही इसकी (व्युत्थान की) तीसरी अध्वा है । तब यह सामान्य रूप से स्थित अनागत और वर्तमान लक्षण से वियुक्त नहीं होता है । व्युत्थान भी इस प्रकार अनागत लक्षण को छोड़कर, धर्मत्व का अतिक्रमण न करके वर्तमान लक्षणापन्न होता है । इस दशा में इसकी स्वरूपाभिव्यक्ति होने का कार्य देखा जाता है । यही इस व्युत्थान की दूसरी अध्वा है । यह व्युत्थान अतीत तथा अनागत लक्षण से भी वियुक्त नहीं होता है । निरोध भी ऐसा ही है और व्युत्थान भी ऐसा ही है ।

अवस्था परिणाम—इसी प्रकार अवस्था परिणाम है । उसमें निरोध के क्षणों में निरोध-संस्कार बलवान् होते हैं और व्युत्थान-संस्कार निर्बल होते हैं । यह धर्मों का अवस्था-परिणाम है । इनमें धर्मी का धर्मों द्वारा परिणाम होता है; धर्म का लक्षण-त्रय द्वारा परिणाम होता है, लक्षणों का अवस्थासमूह द्वारा परिणाम होता है । इस प्रकार धर्म, लक्षण तथा अवस्था इन तीनों परिणामों से शून्य होकर सत्त्वादि गुण-वृत्त क्षणमात्र भी स्थित नहीं रह सकता है, क्योंकि गुणों का स्वभाव चंचल होता है । गुणों का स्वभाव ही गुणों की गतिशीलता या प्रवृत्ति का कारण कहा गया है । (इस सम्बन्ध में योगसूत्र 2:15 व 2:18 का भाष्य द्रष्टव्य है) । इस (चित्त परिणाम) के द्वारा भूतों एवं इन्द्रियों में धर्मधर्मी भेद से तीन प्रकार का परिणाम जानना चाहिए; किन्तु परमार्थतः (धर्म-धर्मी में अभेद मानकर) एक ही परिणाम है, (क्योंकि) धर्म तो धर्मी का स्वरूपमात्र होता है, कोई अलग स्थित वस्तु तो नहीं है । धर्म के द्वारा धर्मी का यह विकार (परिणाम) ही प्रपंचित अर्थात् पूर्वोक्त त्रिविध परिणाम के रूप

में विस्तृत होता है। उस (धर्मी) में रहने वाले धर्म का ही अतीत, अनागत, वर्तमान स्थितियों में भाव (परिवर्तन) जन्य भिन्नता होती है, किन्तु द्रव्य (धर्मी) का अन्यथात्व नहीं होता है। जैसे—सुवर्ण पात्र को तोड़ कर अन्य प्रकार से बनाये जाने पर सुवर्ण पात्र में अन्यथात्व या अन्यप्रकारत्व होता है किन्तु सुवर्ण में अन्यथात्व या अन्यप्रकारत्व नहीं होता है।

अपर पक्षी कहता है—धर्मों से हटकर धर्मी कोई पदार्थ नहीं होता, पूर्व तत्त्व का स्वरूप अक्षुण्ण रहने के कारण; अर्थात् धर्म और धर्मी नितान्त अभिन्न हैं। यदि पूर्व एवं पर अवस्था में अनुगत रहने वाला कोई धर्मी होता तो कूटस्थ रूप से ही परिणत होता अर्थात् नित्य अविकार भाव में अवस्थित रहता (इस पक्ष में) यह दोष नहीं है। क्यों ? नित्यत्व के प्रतिषेध से (ऐकान्तिक नित्यता को स्वीकार न करने से) यह सम्पूर्ण जगत् व्यक्तता से च्युत होता है। क्यों ? नित्यत्व के प्रतिषेध से। व्यक्तता से च्युत होने पर भी विद्यमान रहता है, विनाश का प्रतिषेध होने से। अपने कारण में लीन होने से जगत् की सूक्ष्मता होती है और सूक्ष्मता के कारण ही इसकी (अभिव्यक्ति की) उपलब्धि नहीं होती है।

लक्षण परिणाम धर्म तीनों कालों में विद्यमान होता हुआ भी अतीत होता है; अतीत लक्षण युक्त धर्म अनागत एवं वर्तमान लक्षणों से अवियुक्त होता है। इसी प्रकार अनागत (धर्म) अनागत लक्षण युक्त होता हुआ भी वर्तमान एव अतीत लक्षणों से अवियुक्त होता है। इसी प्रकार वर्तमान धर्म वर्तमान लक्षण से युक्त होता हुआ भी अतीत एवं अनागत लक्षणों से अवियुक्त होता है। जैसे कोई पुरुष एक स्त्री में अनुरक्त रहता हुआ भी शेष स्त्रियों से विरक्त नहीं होता है।

इस लक्षण-परिणाम में प्रत्येक लक्षण का सभी लक्षणों के साथ काल-सांकर्य दोष होता है, ऐसा इस पक्ष में दोष बताया जाता है। उसका समाधान—धर्मों का धर्मत्व (सिद्ध करने की आवश्यकता नही) यह सिद्ध ही है। धर्मत्व है तो लक्षण-भेद भी कहना ही होगा। इस धर्म का धर्मत्व केवल वर्तमान में ही नहीं है। इसी प्रकार चित्त क्रोध काल में राग के अभिव्यक्त न होने से रागधर्मक सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उस समय राग अविभव्यक्त नहीं रहता है।

और क्या ? यह भी ज्ञातव्य है कि त्रिविध लक्षणों का एक ही साथ एक ही व्यक्ति में प्रकट होना सम्भव नहीं है, परन्तु क्रमानुसार अपने व्यंजक से अभिव्यक्त होने वाले की अभिव्यक्ति होती है। एतद् विषयक उक्ति भी है—अभिव्यक्त रूप और अभिव्यक्त वृत्तियों का परस्पर विरोध होता है। अनभिव्यक्त रूप वृत्ति तो अभिव्यक्त रूप वृत्तियों के साथ विद्यमान रहते हैं। इसलिए यह काल का सांकर्य-दोष नहीं रहता है। जैसे कि राग की किसी विषय में अभिव्यक्ति रहने पर उस समय में अन्य विषयों में राग का अभाव नहीं होता है, किन्तु केवल सामान्य रूप से उसमें राग रहा करता

है, अतएव वहाँ (जहाँ राग अभिव्यक्त है, वहाँ से अतिरिक्त स्थान में भी) राग का भाव है, उसी प्रकार लक्षणों की (विद्यमानता भी होती है) ।

धर्मी तो त्र्यध्वा अर्थात् तीन अवस्था वाला नहीं है, किन्तु धर्मसमूह त्र्यध्वा है । लक्षित (व्यक्त, वर्तमान) अथवा अलक्षित (अव्यक्त; अतीत और अनागत) वे धर्म भिन्न अवस्था को प्राप्त कर भिन्न रूप से निर्दिष्ट होते हैं; केवल अवस्था-भेद से ऐसा होता है, द्रव्य-भेद से नहीं । जैसे कि एक रेखा सौ के स्थान में सौ, दश के स्थान में दश, एक के स्थान में एक कही जाती है और जिस प्रकार स्त्री के एक होने पर भी वह माता कही जाती है, वही पुत्री और बहन भी कही जाती है ।

अवस्था-परिणाम में कुछ लोग कूटस्थता रूप दोष का आरोपण करते हैं । वह कैसे ? अनागतादि काल का केवल व्यापार से व्यवधान होने के कारण । जब घटादि धर्म (जलाहरणादि) स्वकार्य को नहीं करता तब अनागत, जब करता है तब वर्तमान और जब करके उपरत होता है, तब अतीत होता है । इस प्रकार धर्म-धर्मी के लक्षणों का और अवस्थाओं का कूटस्थ (नित्यता) दोष आता है; ऐसा दोष अन्यों के द्वारा दिया जाता है । वास्तव में यह दोष नहीं है । किस कारण ? गुणी के नित्य होने पर भी गुणों की न्यूनाधिकता रूप विमर्द की विचित्रता से । जैसा कि अविनाशी शब्दादि तन्मात्राओं के विनाश धर्मी कार्यरूपी पृथिवी आदि पंचभूत धर्म मात्र हैं, इसी प्रकार अविनाशी सत्त्वादि गुणों का कारण वाला विनाशी महत्तत्त्व धर्ममात्र है । उसमें विकार संज्ञा है । उसमें यह उदाहरण है—मृत धर्मी पिण्डाकार धर्म से धर्मान्तर को प्राप्त होता हुआ धर्म के रूप से घटरूप में परिणत होता है । घटाकार अनागत लक्षण को छोड़कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त होता है । इस प्रकार लक्षण के द्वारा परिगत होता है । घट प्रतिक्षण नये से पुराना होता हुआ अवस्था-परिणाम को प्राप्त होता है । धर्मी (मृत्तिका) की भी धर्मान्तर (घट) अवस्था धर्म (घट) की भी लक्षणान्तर (अनागत से वर्तमान की प्राप्ति) अवस्था है । एक ही द्रव्य परिणाम भिन्न-भिन्न प्रकार से दीखता है । इस प्रकार की योजना अन्य (भूत, इन्द्रिय, प्रकृति) में भी कर लेनी चाहिए । वे ये धर्म लक्षणावस्था परिणाम धर्मी के स्वरूप का अतिक्रमण न करते हुए धर्मी में रहते हैं । इसलिए एक ही धर्मी का परिणाम इन समस्त विशेषणों को प्राप्त होता है । इसके पश्चात् यह परिणाम क्या है ? विद्यमान द्रव्य के पूर्व धर्म के निवृत्त होने पर अन्य धर्म की उत्पत्ति 'परिणाम' है ।

योगदीपिका

प्रकृति का नियम परिवर्तनशील है । प्रकृति को अव्यक्त कहा जाता है, जो परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म है, अस्तु अदृश्य है । वह सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन विशेषताओं से युक्त है । ये ही त्रिगुण उसकी शक्ति हैं । वह धर्मी है और गुण उसके धर्म हैं । किसी वस्तु में व्याप्त शक्ति या गुण या विशेषताएँ उसके धर्म हैं ।

जिसमें शक्ति गुण-धर्म व्याप्त है वह धर्मी है । जो कुछ व्यक्त अव्यक्त है, वह सब इसी 'अव्यक्त' मूल प्रकृति के धर्मों का परिणाम, फल या परिवर्तित रूप है । सांख्य और योग दर्शन दोनों अपने दार्शनिक सिद्धान्तों मे लगभग समान हैं । दोनो 'सत्कार्य-वाद' को मानते हैं । 'सत्कार्य' का अर्थ है—जो सत् है अर्थात् जिसकी वास्तविक सत्ता है, वह कभी नष्ट नहीं होता है । वह स्थूल से सूक्ष्म हो जाये अथवा एक वस्तु से दूसरी वस्तु में परिवर्तित होकर दूसरा नाम ग्रहण कर ले, किन्तु विद्यमान सदा रहता है । इसी प्रकार जो वस्तु नहीं है, वह कभी हो नहीं सकती । जैसे बालू में तेल न था, न है, न होगा । प्रकृति के नियम जैसे अदृश्य चित्त पर लागू होते हैं, वैसे ही दृश्य शरीर और प्रकृति के प्रकट अन्य पदार्थों पर घटित होते हैं । उक्त 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त और पूर्वोक्त नवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें सूत्रों को समक्ष रखकर इस तेरहवें सूत्र में कथित सत्य का विवेचन संक्षेप में यहाँ किया जा रहा है—

नवें और दसवें सूत्रों में तो निरोध-समाधि के समय होने वाले चित्त के धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम का वर्णन किया गया है तथा ग्यारहवें और बारहवें सूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि के समय होने वाले चित्त के धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम का वर्णन किया गया है । यह परिणाम या परिवर्तन जैसे चित्त में होता है, वैसे ही संसार की समस्त वस्तुओं में बराबर होता रहता है । यह ध्यान रखना चाहिए कि चित्त भी प्रकृति के धर्म त्रिगुणों से निर्मित है । जैसे संसार के अन्य पदार्थ बने हैं, वैसे चित्त भी बना है । इसलिए सब पर प्राकृतिक नियमों का समान प्रभावी होना स्वाभाविक है । जो वस्तु वर्तमान में उत्पन्न हो रही है, वह अपनी उत्पत्ति के पहले भी अपने कारण में सूक्ष्म रूप से विद्यमान थी, लुप्त होने के बाद भी वह अपने कारण में विद्यमान रहेगी । कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता है, केवल उसका रूप परिवर्तन होता है । वैज्ञानिक जिस सत्य की खोज आज कर पाये हैं, सांख्य और योग में वह सत्य हजारों साल पहले जाना जा चुका है । इस परिवर्तन अथवा परिणाम को तीन नाम देकर उसका विवेचन किया जा रहा है—

(1) **धर्मपरिणाम**—जब किसी धर्मी में एक धर्म का लय होकर दूसरे धर्म का उदय होता है, उसे 'धर्मपरिणाम' कहते हैं । जैसे नवें सूत्र में 'चित्त' रूपी धर्मी के 'व्युत्थान संस्कार' रूपी धर्म का लय हुआ और उसके स्थान पर 'निरोध संस्कार' रूपी धर्म का प्रकट होना बताया गया है । यही चित्त रूप धर्मी का धर्मपरिणाम है । पहले रजस् और तमस् प्रबल होकर छाये थे और सत्त्व दबा था किन्तु अब सत्त्व का उभार हो गया और रजस् और तमस् दब गये । इसी प्रकार ग्यारहवें सूत्र में 'अनेकाग्रता' रूप चित्त के धर्म का दब जाना और 'एकाग्रता' रूप धर्म का उदय होना बताया गया है, यह भी चित्तरूप धर्मी का धर्मपरिणाम है ।

इसी प्रकार पंचभूतों में भी यह परिणाम देख सकते हैं—पहले भुरभुरी मिट्टी थी, फिर उस मिट्टी को संस्कारित कर मृत्तिका पिण्ड बनाया गया और फिर उसी मृत्तिका पिण्ड से घट, राजा, रानी, सिपाही आदि खिलौने बने। यह मिट्टी के पिण्ड रूप का लोप और घट एवं अन्य वस्तु रूप धर्म का उदय होना हुआ; फिर जब घट एवं अन्य खिलौने टूट गये तब घटादि का क्षय धर्म और टुकड़ों में बिखर जाने वाले रूप धर्म का उदय हुआ। ये सारे रूप मिट्टी रूप धर्मी के धर्मपरिणाम हैं। इसी प्रकार जलादि अन्य भूतों के भी परिणाम समझ लेने चाहिए।

(2) लक्षणपरिणाम—यह परिणाम भी धर्मपरिणाम के साथ जुड़ा है। यह 'लक्षणपरिणाम' 'धर्मपरिणाम' के 'धर्म' (विशेषता या गुण के स्वरूप) में होता है। वस्तु के वर्तमान धर्म का नष्ट हो जाना उसका अतीत लक्षणपरिणाम है। अनागत धर्म का प्रकट होना उसका वर्तमान लक्षणपरिणाम है। प्रकट होने से पहले वह अनागत लक्षण वाला रहता है। इन तीनों को धर्म का 'लक्षणपरिणाम' कहते हैं। ग्यारवें सूत्र में जो चित्त की सर्वार्थता का क्षय होना बताया गया है, वह उसका अतीत लक्षणपरिणाम है और जो एकाग्रता रूप धर्म का उदय होना बताया गया है, वह उसका वर्तमान लक्षणपरिणाम है। वह उदय होने से पहले अनागत लक्षणपरिणाम में था। इस परिवर्तन में धर्मी का धर्म नहीं बदलता, केवल उसका ढंग या कार्य-विधि बदल जाती है।

(3) अवस्थापरिणाम—जब कोई वस्तु एक अवस्था से दूसरी अवस्था में आ जाती है, तो उसे 'अवस्थापरिणाम' कहते हैं। यह परिवर्तन प्रतिक्षण होता रहता है। त्रिगुणमय कोई भी वस्तु क्षण भर भी एक अवस्था में नहीं रह सकती है। यही बात दसवें और बारहवें सूत्रों में निरोध धर्म के और एकाग्र धर्म के वर्तमान लक्षणपरिणाम में एक ही प्रकार के संस्कार और वृत्तियों के क्षय और उदय को कहकर बतायी गयी है। वृत्तियाँ एकाग्रावस्था में उदय तो होती हैं प्रतिक्षण, किन्तु उनके उदय और अस्त में एक ही वृत्ति की निरन्तरता रहती है। 'अवस्थापरिणाम' को इस प्रकार भी समझा जा सकता है। हम बालक से युवा और युवा से वृद्ध किसी एक दिन या एक घड़ी में नहीं हुए। हमारा यह अवस्थापरिणाम का परिवर्तन प्रतिक्षण होता हुआ ही एक अवस्था विशेष तक पहुँच पाया है। यह अवस्थापरिणाम है, किन्तु इसका ज्ञान लम्बे समय के बाद होता है।

इस प्रकार 'धर्मपरिणाम' में धर्मी के धर्म का परिवर्तन होता है। 'लक्षण-परिणाम' में पहले धर्म का अतीत हो जाना और नये धर्म का वर्तमान हो जाना, इस प्रकार धर्म का लक्षण बदलता है। 'अवस्थापरिणाम' में धर्म के वर्तमान लक्षण से युक्त रहते हुए ही उसमें परिवर्तन होता रहता है। पहले परिणाम की अपेक्षा दूसरा परिणाम या परिवर्तन सूक्ष्म है और दूसरे की अपेक्षा तीसरा परिणाम सूक्ष्म है। ये

तीनों परिवर्तन शाश्वत हैं और प्रकृति के सभी पदार्थों में होते रहते हैं । जो कुछ आज दिखाई दे रहा है, परिवर्तन का परिणाम है । यह परिवर्तन उपर्युक्त तीनों कारणों से होता है । किसी वस्तु के धर्म में जब परिवर्तन होता है, तब वह अपने स्वरूप में नहीं आ पाता, जैसे दूध से दही बनने पर वह दही फिर दूध नहीं बन पाता । यहाँ धर्म और लक्षण दोनों परिवर्तित हैं । सुवर्ण से हार बनने में केवल लक्षण बदला है, धर्म नहीं । जवानी से बुढ़ापा में अवस्था बदली है, व्यक्ति नहीं ।

छन्दोबद्ध सार

परिवर्तन है नियम प्रकृति का सभी वस्तुओं में आता ।
साधक के चित्तों पर भी इसका प्रभाव देखा जाता ॥
'धर्म' और 'लक्षण' परिणाम हैं तथा 'अवस्थागत' परिणाम ।
स्थिति के अनुसार बाँट कर रखे गये हैं इनके नाम ॥
व्युत्थान-काल के संस्कार भी दबे पड़े रह जाते हैं ।
साधक इसे ध्यान में रख कर आगे चरण बढ़ाते हैं ॥

तत्र—

उस सन्दर्भ में (धर्मी का स्वरूप बताया जा रहा है)

⊛ धर्मी का स्वरूप ⊛

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥14॥

शब्दार्थ—शान्त = अतीत । उदित = वर्तमान । अव्यपदेश्य = भविष्यत् । धर्मानुपाती = धर्म में रहने वाला । धर्मी = धर्मी है ।

सूत्रार्थ—द्रव्य में सदैव विद्यमान रहने वाली विशेषताओं का नाम 'धर्म' है और उनके आधारभूत द्रव्य का नाम धर्मी है ।

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः । स च फलप्रसवभेदानुमित-सद्भाव एकस्यान्योऽन्यश्च परिदृष्टः । तत्र वर्तमानः स्वव्यापारमनुभवन्धर्मो धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेशेभ्यश्च भिद्यते । यदा तु सामान्येन सम-न्वागतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रत्वात्कोऽसौ केन भिद्यते ? तत्र त्रयः खलु धर्मिणो धर्माः शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति । तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः । सव्यापारा उदिताः । ते चानागतस्य लक्षणस्य समनन्तराः। वर्तमानस्यानन्तरा अतीताः । किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः ? पूर्वपश्चिमताया अभावात् । यथानागतवर्त्तमानयोः पूर्वपश्चिमता नैवमती-

तस्य। तस्मान्नातीतस्यास्ति समनन्तरः । तदनागत एव समनन्तरो भवति वर्तमानस्य ।

अथाव्यपदेश्याः के ? सर्वं सर्वात्मकमिति । यत्रोक्तम्—'जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टं तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेष्विति'—एवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति । देशकालाकार-निमित्तासम्बन्धान्न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति । य एतेष्वभि-व्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी । यस्य तु धर्ममात्रमेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः । कस्मात् ? अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत्कथं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत ? तत्स्मृत्यभावश्च नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति । वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्वयी धर्मी यो धर्मा-न्यथात्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते । तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति ॥14॥

योग्यता से विशिष्ट बने धर्मी का सामर्थ्य ही 'धर्म' है । इस धर्म की सत्ता फलोत्पत्ति भेद से ही अनुमित होती है और वह भिन्न-भिन्न प्रकार का देखा गया है । एक ही धर्मी के बहुत से धर्म देखे जाते हैं । उनमें से वर्तमान धर्म अपने व्यापार को अनुभव करता हुआ शान्त (भूत) और अव्यपदेश्य (अनागत) धर्मों से भिन्न होता है । जब सामान्य (अनभिव्यक्तता) से (धर्मी में) रहता है, तब केवल धर्मी स्वरूप होने से कौन किससे भिन्न होगा ? उनमें से धर्मी के धर्म तीन है—शान्त (भूत), उदित (वर्तमान) तथा अव्यपदेश्य (अनागत), उनमें से शान्त वे हैं जो स्वकार्य करके उपरत हो गये हैं । जो कार्यरत हैं वे 'उदित' हैं, वे अनागत लक्षण के समनन्तरभूत अर्थात् अव्यवहित परवर्ती हैं सभी अतीत धर्म वर्तमान के समनन्तरभूत हैं । वर्तमान धर्मसमूह अतीत के परवर्ती क्यों नहीं होते ? उनकी (अतीत और वर्तमान की) पूर्व परता के अभाव के कारण जिस प्रकार अनागत और वर्तमान की पूर्वपरता रहती है, उस प्रकार अतीत और वर्तमान में नहीं है । अत: अतीत अनन्तर और कुछ नहीं है और अनागत ही वर्तमान का पूर्व है ।

अब अव्यपदेश्य (अनागत) धर्म क्या है ? सभी पदार्थ सर्वकार्योत्पादन क्षमता से सम्पन्न होते हैं । एतद् विषयक उक्ति भी है—जल भूमि का परिणाम रसादि का सर्वात्मक स्वरूप स्थावरों (वृक्षादिकों) में देखा जाता है । उसी प्रकार स्थावरों का जंगमों (सजीव चलायमान जीवों) में, जंगमों का स्थावरों में दृष्टिगोचर होता है । इस प्रकार (जलत्व-पृथिवीत्वादि) जाति का उच्छेद न होने से सभी पदार्थ सर्व रूपों वाले होते हैं । देश, काल, आकार और सहकारी कारणों का सम्बन्ध न होने से एक काल में सर्व पदार्थों की अभिव्यक्ति नहीं होती है । जो इन अभिव्यक्त एवं अनभिव्यक्त धर्मों में अनुगत सामान्य (धर्मी) विशेष (धर्म) (यह उभयरूप) अन्वयी (मृत्तिकादि) है, वह धर्मी होता है । जिसके मत में यह चित्त धर्ममात्र है । अनेकों में अनुगमन करने वाले

अन्वयी नहीं हैं, उसके मत में भोग का अभाव होता है । क्यों ? अन्य विज्ञान के द्वारा किये गये कर्म का अन्य (विज्ञान) भोक्ता के रूप में कैसे अधिकृत होगा ? अन्य के द्वारा देखे गये का अन्य को स्मरण नहीं होता; इस आधार पर पूर्वानुभूतो की स्मृति का अभाव होगा । वस्तु के प्रत्यभिज्ञान (पहचान) होने तथा सबमें अनुगमन करने वाला कोई धर्मी है, जो धर्म रूप से अन्यथा भाव को प्राप्त होता हुआ प्रत्यक्ष का विषय बनता है । इसलिए यह अनुगमन धर्मी रहित धर्ममात्र नहीं है; अपितु धर्मी भी है ।

योगदीपिका

इस सूत्र में धर्मी का स्वरूप बतलाया गया है । तत्त्वत: विचार किया जाय तो मूलत: सृष्टि के समस्त पदार्थों का मूल कारण यह प्रकृति अथवा अव्यक्त ही है । यह सभी में विद्यमान रहती है, चाहे उस पदार्थ में कैसा भी परिवर्तन क्यों न हो जाय । इस मूलतत्त्व प्रकृति की अनन्त शक्तियाँ हैं, जिनमें हुए परिवर्तन से ही वस्तुओं में परिवर्तन होता है । ये शक्तियाँ ही मूल प्रकृति का 'धर्म' कहलाती है । इस प्रकार सभी पदार्थों का आधारभूत द्रव्य प्रकृति को धर्मी कहा जा सकता है तथा उसमें रहने वाली अनेक शक्तियो का नाम 'धर्म' है । पदार्थ के निर्माण की प्रक्रिया में उसी का रूप बदलता रहता है । इसी कारण कोई पदार्थ अतीत में कुछ था, वर्तमान में कुछ और है और भविष्य में कुछ और ही हो जायेगा: यही परिवर्तन पदार्थ का या प्रकृति का धर्म है । यह सारा परिवर्तन धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम में होता है, किन्तु उनमें आधार रूप में जो तीनों कालों में विद्यमान रहता है, वह 'धर्मी' है । जो पहले बर्फ था, वर्तमान में पानी बना, भविष्य में भाप बन सकता है । ये तीनों रूप जल रूपी धर्मी के 'धर्म' हैं । इसी प्रकार अन्य पदार्थों को भी समझना चाहिए । एक धर्मी के अनेक धर्म (रूप) हो सकते हैं, उनमें कुछ शान्त (भूतकालिक), कुछ वर्तमानकालिक और कुछ भविष्यत्कालिक हो सकते हैं । इस प्रकार इनके तीन भेद हैं—

(1) **अव्यपदेश्य**—जो वस्तु में छिपे हैं, किन्तु प्रकट न हो सकने के कारण स्पष्ट निर्देशित नहीं किये जा सकते, वे 'अव्यपदेश्य' कहलाते हैं । इसी को अनागत या आने वाला भी कहते हैं । ये समय पाकर भविष्य में प्रकट होंगे:जैसे—बीज में वृक्ष छिपा है, शिशु में जवान छिपा है, काष्ठ में अग्नि छिपी है, जो समय पर प्रकट होगी ।

(2) **उदित**—जो धर्म पहले शक्ति रूप में धर्मी में छिपे थे; उनका समय और परिस्थिति को पाकर प्रकट हो जाना, उस धर्म की 'उदित' अवस्था है । इसे उस धर्म का वर्तमान होना भी कहते हैं; जैसे—बीज में छिपे वृक्ष का प्रकट हो जाना; मिट्टी में शक्तिरूप से वर्तमान घट का अपने रूप में प्रकट हो जाना आदि ।

(3) **शान्त**—जो धर्म अपना कार्य पूरा कर अपने धर्मी में विलीन हो जाती हैं, वे शान्त कहलाते हैं। इसी को 'अतीत' भी कहते हैं; जैसे—बर्फ का गलकर जल में विलीन हो जाना, घड़े का फूटकर मिट्टी में विलीन हो जाना आदि।

धर्मों की 'अव्यपदेश्य' 'उदित' और 'शान्त' इन तीनों स्थितियों में धर्मी सदा ही अपने धर्म में व्याप्त रहता है। किसी भी काल में धर्मी के बिना धर्म नहीं रहते।

छन्दोबद्ध सार

द्रव्य स्थित शक्तियाँ सदा ही उसमें रहती विद्यमान।
वह द्रव्य का धर्म कहातीं, धर्मी उसका द्रव्य प्रधान ॥
कभी लुप्त तो कभी प्रकट वे, कभी प्रकट होने वाली।
लेकिन वे अपनी सत्ता को कभी नहीं खोने वाली ॥
धर्म द्रव्य धर्मी में स्थित कभी नहीं वे होते लुप्त।
रूप बदल कर आते रहते, प्रकटित कभी, तो कभी गुप्त ॥

⊛ परिणामों में विभेद का कारण ⊛

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥15॥

शब्दार्थ—क्रम-अन्यत्वम् = क्रम में भिन्नता। परिणाम-अन्यत्वे = परिणाम में भिन्नता। हेतुः = कारण है।

सूत्रार्थ—धर्मी के भिन्न-भिन्न परिणाम या भिन्न-भिन्न रूप होने का कारण क्रम की भिन्नता है।

एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्ते क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति। तद्यथा—चूर्णमृत्, पिण्डमृद्, घटमृत्, कणमृदिति च क्रमः। यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः। पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायत इति धर्मपरिणामक्रमः। लक्षणपरिणामक्रमो घटस्यानागतभावाद्वर्तमानभावक्रमः। तथा पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावक्रमः। नातीतस्यास्ति क्रमः। कस्मात्? पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वम्। सा तु नास्त्यतीतस्य। तस्माद् द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः। तथावस्थापरिणामक्रमोऽपि। घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते। सा च क्षणपरम्परानुपातिना क्रमेणाभिव्यज्यमाना परां व्यक्तिमापद्यत इति। धर्मलक्षणाभ्यां च विशिष्टोऽयं तृतीयः परिणाम इति। त एते क्रमाः धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलब्धस्वरूपाः। धर्मोऽपि धर्मी भवत्यन्यधर्मस्वरूपापेक्षयेति। यदा तु परमार्थतो धर्मिण्य-

भेदोपचारस्तद्द्वारेण स एवाभिधीयते धर्मस्तदायमेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते । चित्तस्य द्वये धर्माः परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च । तत्र प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टाः वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः । ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्रापितवस्तु मात्रसद्भावाः ।

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् ।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥ इति ॥15॥

एक धर्मी का एक ही (धर्म, लक्षण या अवस्था) परिणाम होगा—इस शंका का समाधान यह है कि क्रम का अन्यत्व परिणाम के अन्यत्व में हेतु होता है, जैसे—चूर्णमृत्तिका, पिण्डमृत्तिका, घटमृत्तिका, कपालमृत्तिका, कणमृत्तिका—यह क्रम है । जिस धर्म का जो परवर्ती धर्म है, वही उसका क्रम है । 'पिण्ड अन्तर्हित होता है, घट उत्पन्न होता है' । वह धर्मपरिणामक्रम है । लक्षण-परिणामक्रम है—घट का अनागत भाव से वर्तमान भाव में आना । उसी प्रकार पिण्ड का वर्तमान भाव से अतीत भाव क्रम है । अतीत का और क्रम नहीं है । क्यों ? क्योंकि पूर्वपरता रहने से अव्यवहितत्व होता है । वह अतीत का नहीं है । इसलिए दो लक्षणों का ही क्रम है ।

अवस्था-परिणामक्रम भी उसी प्रकार का है । यथा—नये घड़े के अन्त (लम्बे काल) में पुरानापन दीखता है और वह क्षणों की परम्परा से अनुगत क्रम के द्वारा अभिव्यक्त होता हुआ अन्तिम अवस्था को प्राप्त होता है । यह तृतीय अवस्था परिणाम धर्म-परिणाम लक्षण-परिणाम से भिन्न है । वे ये क्रम धर्म-धर्मी के भेद रहने पर प्रकट होने वाले होते हैं । धर्म भी धर्मी बनता है, (अपने से) अन्य धर्मों के स्वरूप की अपेक्षा से । जब वास्तविक रूप में धर्मी में अभेद की दृष्टि से कथन किया जाता है, उस अभेदाचार के द्वारा वह धर्मी ही धर्म कहा जाता है । तब यह क्रम (क्रमिक विकास) एक ही रूप (धर्म-परिणामक्रम के रूप) में प्रतीत होता है ।

चित्त के द्विविध धर्म हैं—परिदृष्ट (प्रत्यक्ष) और अपरिदृष्ट (परोक्ष) । उनमें प्रत्ययात्मक धर्म (ज्ञानात्मक धर्म) प्रत्यक्ष है । वस्तुमात्रात्मक (चित्तस्वरूप में ही स्थित) परोक्ष है । अनुमान प्रमाण द्वारा साधित वस्तुमात्र सद्भाव वाले वे अपरिदृष्ट धर्म सात ही होते हैं—निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा और शक्ति; ये चित्त के न दिखाई पड़ने वाले सात धर्म हैं ।

योगदीपिका

आदिशक्ति तो एक है, जिसे दार्शनिक भाषा में अव्यक्त, मूल प्रकृति या प्रधान कहते हैं तथा वैज्ञानिक भाषा में इसे ऊर्जा (energy) कहते हैं । उसी एक से अनेक

का, जड़-चेतनमय अनन्त सृष्टि का बहुरूपी विकास हुआ। एक से तो एक का विकास होता है, फिर अनेकता कहाँ से आई ? इस शंका का समाधान इस सूत्र मे किया गया है। मूल प्रकृति वह एकमात्र धर्मी जिसके गुण-धर्मों के सम्मिश्रण क्रम में भिन्नता उससे बनने वाली भिन्नता का कारण बनी। मूल प्रकृति एक है, किन्तु उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं, जिन्हें उसका 'धर्म' कहा जाता है। इन शक्तियों के परस्पर मिलन, उनके सम्मिश्रण और सम्मिश्रण के अनुपात में अन्तर और उनके क्रिया-प्रतिक्रिया स्वरूप सृष्टि में विभिन्न रूपों का विकास हुआ। वृक्ष, वनस्पति, पशु-पक्षी, जलचर, थलचर, यावत् जीव दृश्य या अदृश्य है; सबका मूल कारण तो एक है, किन्तु विकास-क्रम में उत्पन्न परिस्थितियों ने उनमें जमीन-आसमान का अन्तर पैदा कर दिया। मिट्टी या कोई भी धातु मूलतः एक है, किन्तु साँचे ने उन्हें भिन्न-भिन्न रूप, नाम, गुण वाला बना दिया। पानी एक है; शीत की परिस्थिति ने उसे ठोस बर्फ बना दिया, उष्ण की परिस्थिति ने उसे भाप बनाकर ऊपर उड़ा दिया। यह सम्पूर्ण सृष्टि इसी प्रकृति की शक्ति के क्रमिक विकास का परिणाम है। ऊर्जा से पदार्थ और पदार्थ से ऊर्जा का क्रम परिवर्तनशील सृष्टि का परम रहस्य है। वैज्ञानिक जिस सत्य को आज जान सके हैं, इसका प्रत्यक्षीकरण हजारों वर्ष पहले भारतीय चिन्तक कर चुके थे। धर्मी का धर्म ही इस विकास-क्रम का संचालक है। विकास-क्रम में धर्म भी धर्मी बन जाता है। जैसे—मूलप्रकृति एकमात्र धर्मी है, उसका विकसित रूप महत्तत्त्व उसका धर्म है, क्योंकि कारण प्रकृति का वह कार्य है। इसी प्रकार जब महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति हुई तो महत्तत्त्व 'धर्मी' बन गया और अहंकार उसका 'धर्म' बन गया। आगे विकास हुआ तो अंहकार से पंच तन्मात्राएँ बनी, तब अहंकार 'धर्मी' और तन्मात्राएँ 'धर्म' हुईं। पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूत बने, तो तन्मात्राएँ 'धर्मी' और पंचमहाभूत 'धर्म' बन गये। पंचमहाभूतों में पृथ्वी ने घट को जन्म दिया, वह घड़े का कारण बनी और घड़ा कार्य बना अर्थात् पृथ्वी अथवा मृत्तिका 'धर्मी' बनी और घट उसका 'धर्म' बना। इस प्रकार धर्मी-धर्म की परम्परा अथवा कारण-कार्य की परम्परा सहकारी कारण, जिसे हम परिस्थिति कहते हैं, के सहयोग से एक मूलप्रकृति से अनन्त नाम-रूपों वाली अनन्त सृष्टि विकसित हुई। यही 'विकासवाद' है, जो मूलतः भारतीय मनीषियों की खोज है किन्तु इसका सेहरा बाँध दिया गया है 'डार्विन' के सिर पर। इस सूत्र से आभास होता है कि विकास अचानक नहीं, एक परम्परा के परिणामस्वरूप हुआ।

छन्दोबद्ध सार

एक तत्त्व से ही विकास जब हुआ सारा
भिन्नता कहो कहाँ से विकास में आई है।
शक्तियाँ अनन्त छिपीं मूलधर्मी प्रकृति में
इसीलिए अभिव्यक्ति में भिन्नता छाई है।

चला जो विकास, धर्म-धर्मी बनने का क्रम
लाने लगा भिन्नता, जो देती दिखलाई है।
परिणामक्रम धर्म-धर्मी का सुयोग हुआ
बहुरूपता की झड़ी इसी ने लगाई है।

अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते—

अब इसके आगे योग के सर्वांगों का अनुष्ठान कर चुके योगी के जिज्ञासित पदार्थों के परिज्ञान के लिए संयम (एकीकृत धारणा, ध्यान, समाधि) का विषय प्रस्तुत किया जा रहा है—

⊙ तीन परिणामों में संयम करने का फल ⊙

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥16॥

शब्दार्थ—परिणामत्रयसंयमात् = तीनों परिणामों पर संयम करने से। अतीत-अनागत = अतीत (भूत) अनागत (भविष्य) का। ज्ञानम् = ज्ञान (हो जाता है)।

सूत्रार्थ—परिणामधर्मी पदार्थों के धर्म, लक्षण एवं अवस्था इन तीनों परिणामों में 'संयम' करने से पदार्थ विशेष के भूत और भविष्यत्काल विषयक स्थिति का ज्ञान योगी को हो जाता है।

धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमाद्योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानम्। धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः। तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीतानागतज्ञानं तेषु सम्पादयति ॥16॥

धर्म, लक्षण व अवस्था (इन तीनों) परिणामों में संयम करने पर योगी को भूत और भविष्य का ज्ञान होता है। एक ही आलम्बन में किये गये धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों को 'संयम' कहा गया है। उसमें संयम से परिणाम-त्रय का साक्षात् करते रहने पर उन तीन परिणामों में अनुगत विषय का भूत तथा भविष्य विषयक ज्ञान निष्पन्न होता है।

योगदीपिका

पदार्थ के तीन परिणाम पहले बताये जा चुके हैं। जो इस प्रकार हैं—धर्म-परिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम। जिस किसी वस्तु के उक्त तीनों परिणामों में योगी धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों के मिलित रूप को एकत्र कर केन्द्रित करता है तो उसके परिणामस्वरूप योगी को उस वस्तुविषयक भूत और

भविष्यत्कालिक ज्ञान हो जाता है । धारणा, ध्यान, समाधि का मिलित रूप 'संयम' कहा जाता है ।

छन्दोबद्ध सार

तीनों परिणामों पर 'संयम' का यदि करता योगी संधान ।
उस पदार्थ के भूत और भावी का मिलता उसको ज्ञान ।।

❀ शब्द, अर्थ और ज्ञान विभागों में संयम का फल ❀

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रवि-भागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ।।17।।

शब्दार्थ—शब्दार्थप्रत्ययानाम् = शब्द, अर्थ और ज्ञान के । इतरेतर अध्यासात् = परस्पर के अध्यास से । संकरः = सम्मिश्रण । तत्प्रविभागसंयमात् = शब्द, अर्थ और ज्ञान के प्रविभाग में संयम करने से । सर्वभूतरुतज्ञानम् = सब प्राणियों के शब्दों का ज्ञान होता है ।

सूत्रार्थ—शब्द, अर्थ और ज्ञान के परस्पर अध्यास से अर्थात् एक के धर्मों को दूसरे में देखने से उन शब्द, अर्थ और ज्ञान का परस्पर सम्मिश्रण हो जाता है । उन शब्द, अर्थ और ज्ञान के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में संयम करने से सब प्राणियों के शब्दों का ज्ञान होता है ।

तत्र वाग्वर्णेष्वेवार्थवती । श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम् । पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति । वर्णा एकसमयासम्भवित्वात्परस्परनिरनुग्रहात्मानः । ते पदमसंस्पृश्यानुपस्थाप्याविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते । वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद्वैश्वरूप्यमिवापन्नः । पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इति । एवं बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसङ्केतेनावच्छिन्ना इयन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृता गकारौकारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति । तदेतेषामर्थसङ्केतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं वाचकं वाच्यस्य सङ्केत्यते । तदेकं पदमेकबुद्धिविषयमेकप्रयत्नाक्षिप्तमभागमक्रममवर्णम् । बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितं, परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्सं प्रतिपत्त्या प्रतीयते । तस्य सङ्केतबुद्धितः प्रविभागः । एतावतामेवंजातीयकोऽनुसंहार एतस्यार्थस्य वाचक इति ।

सङ्केतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको योऽयं शब्दः सोऽयमर्थः, योऽर्थः स शब्द इति । एवमितरेतराध्यासरूपः सङ्केतो भवतीति । एवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात्सङ्कीर्णाः—गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानम् । य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित् । सर्वपदेषु चास्ति वाक्य-शक्तिः । 'वृक्ष' इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते । न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति । तथा न ह्यसाधना क्रियास्तीति । तथा च पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपः । नियमार्थोऽनुवादः कर्तृकरणकर्मणां चैत्राग्नितण्डुलानामिति । दृष्टं च वाक्यार्थे पदरचनं श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते, 'जीवति' प्राणान्धारयति । तत्र वाक्ये पदार्थाभिव्यक्तिस्ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं क्रियावाचकं वा कारकवाचकं वा । अन्यथा भवत्यश्वोऽजापय इत्येवमादिषु नामाख्यात-सारूप्यादनिर्ज्ञातं कथं क्रियायां कारके वा व्याक्रियेतेति । तेषां शब्दार्थ-प्रत्ययानां प्रविभागः । तद्यथा—'श्वेतते प्रासाद' इति क्रियार्थः । 'श्वेतः प्रासाद' इति कारकार्थः शब्दः । क्रियाकारकात्मा तदर्थः प्रत्ययश्च । कस्मात् ? सोऽयमित्यभिसम्बन्धादेकाकार एव प्रत्ययः सङ्केत इति । यस्तु श्वेतोऽर्थः स शब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूतः । स हि स्वाभिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न शब्द-सहगतो न बुद्धिसहगतः । एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इत्यन्यथा शब्दोऽन्यथाऽर्थोऽन्यथा प्रत्यय इति विभागः । एवं तत्प्रविभागसंयमाद्यो-गिनः सर्वभूतरुतज्ञानं सम्पद्यत इति ॥17॥

उन (शब्दार्थ प्रत्ययों) में से वाणी वर्णों के उच्चारण में ही सार्थक हो जाती है, कर्ण ध्वनि का विषयग्राही होता है और पद नादानुसंहार बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने योग्य होता है । 'वर्ण' एक ही समय में उच्चरित होने वाले न होने से परस्पर असम्बद्ध स्वरूप वाले होते हैं । वे वर्ण पदत्व को प्राप्त न करके आविर्भूत और तिरोहित होते रहते है । अत: प्रत्येक वर्ण पदस्वरूप नहीं होता है (यह तो वर्णों और पदों का कथित भेद प्रस्तुत किया गया है ।)

(दूसरी दृष्टि से) प्रत्येक वर्ण पद स्वरूप सब अर्थों को बताने की शक्ति से युक्त सहकारी अन्य वर्णों से सम्बद्ध होने के कारण नाना असंख्य पदरूप को प्राप्त करता है, जैसा कि पूर्ववर्ण उत्तरवर्ण से और उत्तरवर्ण पूर्ववर्ण से विशेष रूप से अवस्थापित होता है । इस प्रकार बहुत वर्ण, क्रम की अपेक्षा रखने वाले अर्थ-संकेत से युक्त इतने (ये एक, दो, तीन, चार आदि) वर्ण समस्त अर्थो को बतलाने की शक्ति से युक्त गकार-औकार-विसर्जनीय सास्नादि युक्त (गौ:) पदार्थ को प्रकाशित करते हैं ।

अर्थ-संकेत से युक्त ध्वनिगत क्रम से रहित, उन-इन वर्णों की जो एक अभिव्यक्ति बुद्धि में होती है, वह वाच्य (अर्थ) का वाचक संकेतित होता है; वह 'पद' कहा जाता है । वह पद एक होता है क्योंकि एक बुद्धि का विषय है, एक ध्वनि

रूप प्रयत्न से सम्पादित होता है । अखण्ड एवं क्रम रहित होता है । वर्णों से भिन्न होता है । वह बुद्धिनिष्ठ होता है, अन्तिम वर्ण के ज्ञान के व्यापार से अभिव्यक्त होता है । वह पद दूसरों को बताने की इच्छा से वक्ता के द्वारा कहे जाने वाले एवं श्रोताओं के द्वारा सुने जाने वाले वर्णों के द्वारा परम्परा से अनादिककाल से वाग्व्यवहार की वासना से वासित, लोकबुद्धि के द्वारा नित्य के समान सम्यक् ज्ञान द्वारा प्रतीत होता है । उसका संकेत बुद्धि के द्वारा विभाग होता है कि इतने वर्णों का इस प्रकार का मिलन एक अर्थ का वाचक है ।

संकेत तो पद एवं पदों के अर्थों का इतरेतराध्यास स्मृति रूप होता है; जैसे कि जो यह शब्द है वह अर्थ है, जो यह अर्थ है वह शब्द है । इस प्रकार का संकेत परस्पर अध्यास रूप होता है । इस प्रकार के ये शब्दार्थ प्रत्यय परस्पर अध्यास के द्वारा मिश्रित हैं । उदाहरणार्थ 'गौ' शब्द है, गौ ही अर्थ है, गौ ही ज्ञान है । जो इनके विभागों को जानने वाला है, वह सर्ववित् है । सब पदों में वाक्यशक्ति अर्थबोधक-शक्ति है । जैसे 'वृक्ष' कहे जाने पर 'है' यह ज्ञात हो जाता है । कोई भी पदार्थ 'होने' का अपवाद नहीं है । उसी प्रकार बिना कारक की क्रिया नहीं होती है ।

इसी प्रकार 'पचति' ऐसा कहने पर सब कारक उपस्थित होते हैं—कर्त्ता, करण और कर्म । चैत्र, अग्नि, तण्डुल का अनुवाद नियम के लिए (कि अन्य कारक न लिये जायें) है । वाक्य के अर्थ में पद की रचना देखी गयी है । 'वेद' का अध्ययन करता है' इस वाक्य के लिए 'श्रोत्रिय' पद की तथा 'प्राणों को धारण करता है' इस वाक्य के लिए 'जीवति' पद की रचना देखी गयी है । पदों के अर्थों की अभिव्यक्ति वाक्य में होती है । उससे पद का विभाग करके व्याख्यान करना चाहिए कि वह पद क्रिया को कहता है या कारक को । नहीं तो 'भवति' 'अश्वः' और 'अजापयः' इत्यादि शब्दों में ऐसे स्थलों में नाम और आख्यातों के रूप समान होने के कारण स्पष्ट नहीं हो पाता कि इनका क्रिया में व्याख्यान करना चाहिए या कारक में । उन शब्दों, अर्थों, और ज्ञानों का प्रविभाग होता है । जैसे—'श्वेतते प्रासादः' (प्रासाद श्वेत होता है) इस वाक्य में स्थित 'श्वेतते' क्रियार्थक है । 'श्वेतः प्रासादः' (प्रासाद श्वेत है) यहाँ श्वेत शब्द कारकार्थक है । इन (श्वेतते, श्वेतः) पदों में अर्थ क्रमशः क्रियार्थक और कारकार्थक है तथा ज्ञान भी क्रिया एवं कारक रूप में होता है । क्यों ? वह यह है कि इस प्रकार (इतरेतर अध्यास के कारण) एकाकार का ही ज्ञानात्मक संकेत होता है ।

जो श्वेत अर्थ (पदार्थ) है, वह शब्द और ज्ञान का आलम्बन बना है । वह (अर्थ) ही अपनी अवस्थाओं के द्वारा विकारों को प्राप्त हुआ, न तो शब्द के साथ संकीर्ण है, न बुद्धि के साथ संकीर्ण है । इस प्रकार शब्द है, इस प्रकार ज्ञान है, परस्पर संकीर्ण है । इस प्रकार शब्द अन्य प्रकार का है, अर्थ अन्य प्रकार का है, ज्ञान अन्य प्रकार का है—इस प्रकार का विभाग है । इस प्रकार उनके विभागों में

'संयम' करने से योगी को सभी प्रकार के प्राणियों के शब्दों (वाणी) का ज्ञान हो जाता है ।

योगदीपिका

योगी को 'संयम' अभ्यास से 'समाधि प्रज्ञा' प्राप्त होती है (दे. सूत्र सं. 3:5) धारणा, ध्यान, समाधि की स्थिति दृढ़ हो जाने पर वह प्रकृति के रहस्यों को जानने में सक्षम हो जाता है । इस सूत्र में बताया गया है कि यदि सिद्ध साधक चाहे तो समस्त प्राणियों की बोली के अर्थ समझ सकता है । इसके लिए वह प्राणी विशेष के द्वारा उच्चरित ध्वनि के शब्द, अर्थ, तथा ज्ञान पर अलग-अलग 'संयम' करके उनका यथार्थ जानकर उनकी बोली समझ लेगा । भाषाएँ मानव का वह आविष्कार है, जिसमें पदार्थों को निर्धारित शब्द-संकेतों में बाँध दिया जाता है । किसी भाषा विशेष को सीखकर उसके संकेतों से परिचित होकर विचारों का सामान्य आदान-प्रदान उस भाषा से परिचित लोगों में होता रहता है । शब्द, अर्थ और ज्ञान भिन्न होते हुए भी अभ्यास के कारण मिले हुए रहते हैं । इसी कारण यदि किसी से कहा जाये कि गौशाला में गौ को चारा दे आओ, तो वह सरलतापूर्वक ऐसा कर देगा, किन्तु कोई विदेशी जो इस भाषा विशेष को नहीं जानता, वह अर्थ न समझ सकने के कारण ऐसा नहीं कर पायेगा; किन्तु योगी में समाधिप्रज्ञा के जागरण से अलौकिक क्षमता आ जाती है । प्रत्येक वस्तु अपने विचार, भाव और ध्वनितरंगें बिखेरती रहती हैं । योगी संयम शक्ति द्वारा उन तरंगों को पकड़ कर उन पर अलग-अलग ध्यान केन्द्रित कर 'संयम' शक्ति से उनके रहस्य को, आशय को जान लेता है । जैसे टी. वी. सेट ध्वनि और दृश्य तरंगों को पकड़कर उन्हें पर्दे पर स्पष्ट प्रकट कर देता है, वैसे योगी अपनी योगशक्ति से समग्र अज्ञात को स्पष्ट रूप से ज्ञात कर लेता है । शब्द, अर्थ और ज्ञान की प्रतीति ध्यान के माध्यम से परस्पर जुड़कर एकरूप हो जाती है ।

टिप्पणी—इस सूत्र के आशय को प्रकट करने के प्रसंग में भाष्यकारों ने व्याकरण के 'स्फोटवाद' का सविस्तार वर्णन किया है, जो योग-जिज्ञासुओं के लिए विशेष उपयोगी नहीं है ।

छन्दोबद्ध सार

संयम की शक्ति मिल जाती जब योगी को है
ज्ञान की विलक्षणता इस भाँति आती है ।
पशु-पक्षियों की बोली समझने वाली शक्ति
भलीभाँति योगी के हृदय में सुहाती है ।
ध्वनि और भाव की तरंग ध्यान-विद्युत से
पकड़ में आती चेतना में मंडराती है ।

शब्द, अर्थ, ज्ञान पर संयम के द्वारा सारा
बोली का रहस्य खोलकर बतलाती है ।

⊛ संस्कारों पर संयम करने का फल ⊛

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥18॥

शब्दार्थ—संस्कारसाक्षात्करणात् = (संयम द्वारा) संस्कारों का साक्षात्कार करने से । पूर्वजातिज्ञानम् = पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है ।

सूत्रार्थ—योगी संयमशक्ति के द्वारा संस्कारों का साक्षात्कार करके पूर्व जन्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।

द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपाः विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः । ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः । तेषु संयमः संस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः । न च देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम् । तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः । परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्परजातिसंवेदनम् ।

अत्रेदमाख्यानं श्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणात् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभवत् । अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच—'दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसम्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमि'ति । भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच—'दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि' । भगवानावट्य उवाच—'यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमि'ति । भगवाञ्जैगीषव्य उवाच—'विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तं कैवल्यापेक्षयां दुःखमेव । बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुणः । त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति । दुःखरूपस्तृष्णान्तुः । तृष्णादुःखसन्तानापगमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति ॥18॥

ये (सूत्रोक्त) समस्त संस्कार निश्चय ही दो प्रकार के होते हैं—स्मृति-क्लेश हेतु वासनारूप तथा विपाक हेतु धर्माधर्म रूप । ये पूर्व जन्मों में निष्पादित होते हैं । परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन तथा धर्म के समान वे चित्त के अपरिदृष्ट धर्म या गुण हैं । संस्कार में संयम करने पर उन संस्कारों का साक्षात्कार होता है । उन

संस्कारों से सम्बद्ध देशकाल निमित्तों के अनुभवों के बिना उन संस्कारों का साक्षात्कार नहीं होता है। इस प्रकार संस्कारों का साक्षात्कार करने से दूसरों के जन्म का ज्ञान होता है।

इस विषय में यह आख्यान सुनने में आता है—संस्कार साक्षात्कार करने से दस महासर्गों में व्यतीत जन्म-परिणाम के क्रम को जानने वाले भगवान् जैगीषव्य को विवेकज ज्ञान उत्पन्न हुआ। किसी समय शरीरधारी भगवान् आवट्य उनसे बोले—दस महाकल्पों में उत्पन्न हो चुकने के कारण अनभिभूत बुद्धिसत्त्व वाले, दुःखमय एवं पश्वादि योनियों में प्राप्त होने वाले दुःख को अनुभव करते हुए देवों और मनुष्यों के रूप में बार-बार उत्पन्न होने वाले आपने सुख-दुःख में से अधिक क्या प्राप्त किया? भगवान् आवट्य से जैगीषव्य बोले—दस महासर्गों में भव्यत्व के कारण अनभिभूत बुद्धिसत्त्व वाले, नारकीय पशु-पक्षी योनियों को प्राप्त होने वाले दुःख का अनुभव करते हुए देव-मनुष्यों के रूप में बार-बार उत्पन्न होने वाला मैंने जो कुछ अनुभव किया, उस समस्त को मैं दुःख ही मानता हूँ। भगवान् आवट्य बोले—जो यह आप चिरंजीव का प्रधानवशित्व और अत्युत्तम सन्तोष सुख है, क्या यह भी दुःख की कोटि में डाल दिया है? भगवान् जैगीषव्य बोले—विषयसुख की अपेक्षा से ही यह अत्युत्तम सन्तोष सुख कहा गया है, किन्तु कैवल्यसुख की अपेक्षा यह दुःख ही है। यह सन्तोष-सुख बुद्धिसत्तव का धर्म है और त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणात्मक ज्ञान हेय की कोटि में डाला गया है। तृष्णा तन्तु दुःखरूप है। तृष्णारूपी दुःख सन्ताप की निवृत्ति होने से यह निर्मल, निर्बाध, सबके अनुकूल सुख कहा गया है।

योगदीपिका

इस सूत्र में यह बताया गया है कि 'संयम' द्वारा संस्कारों के साक्षात्कार करने से पूर्व-जन्म का ज्ञान होता है। मनुष्य से शुभ या अशुभ कर्म निरन्तर होते रहते हैं। उन कर्मों में कुछ के फल राजा द्वारा या समाज द्वारा दण्ड या पुरस्कार रूप में तत्काल उसी जन्म में मिल जाते हैं। जो अवशिष्ट रह जाते हैं, वे संस्कार (impression) बन जीवात्मा के साथ दूसरे जन्मों में दूसरे शरीरों में भोगने के लिए बचे रह जाते है, और कर्मफल-भोग बनकर सामने आते हैं। ये संस्कार जन्म-जन्मान्तर के संचित कर्म के रूप में सूक्ष्मरूप से कर्माशय में विद्यमान रहते हैं। उक्त संस्कार दो प्रकार के होते हैं—प्रथम प्रकार वासनारूप जो कि स्मृति के कारण हैं; दूसरा धर्माधर्म रूप जो कि जाति, आयु और भोग के कारण हैं—ये दोनों ही प्रकार के संस्कार अनेक जन्म-जन्मान्तर से संग्रहीत होते आ रहे हैं। उन संस्कारों में 'संयम' करके उनको प्रत्यक्ष कर लेने से योगी को पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। जैसे अपने पूर्वसंस्कारों के साक्षात्कार करने से अपने पूर्वजन्म का ज्ञान होता है, वैसे ही दूसरों को संस्कारों में संयम करके उन दूसरों के भी पूर्वजन्म का ज्ञान हो सकता है।

छन्दोबद्ध सार

जीवन में जो कार्य होता या विचार होता,
निज छाप छोड़ संस्कार बन जाता है ।
बिना उन्हें भोगे हुए छुट्टी मिलती नहीं है
कर्म-भोग बनके समक्ष वह आता है ।
संयम के द्वारा उन संस्कारों पर योगी
पूर्वजन्म के वृत्तान्त-ज्ञान सब पाता है ।
दूसरों का पूर्वजन्म-ज्ञान मिल जाता, यदि
संस्कार पर ध्यान उनके लगाता है ।

⊛ चित्त में 'संयम' करने का परिणाम ⊛

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥19॥

शब्दार्थ—प्रत्ययस्य = दूसरे के चित्त की वृत्ति के साक्षात् करने से । परिचित्तज्ञानम् = दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है ।

सूत्रार्थ—जब योगी दूसरे के ज्ञान में संयम करता है, तब उसको अन्य के चित्त का ज्ञान हो जाता है ।

प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्करणात्तत; परचित्तज्ञानम् ॥19॥

प्रत्यय (ज्ञान, चित्त) में संयम का अभ्यास करने से ज्ञान या चित्तवृत्ति का साक्षात्कार करने से, उस साक्षात्कार द्वारा दूसरों के ज्ञान या चित्तवृत्ति का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है ।

योगदीपिका

अब 'संयम' से मिलने वाली चौथी सिद्धि का वर्णन किया जा रहा है । चित्त पर संयम करने से चित्तवृत्तियों का सविशेष ज्ञान हो जाता है । अपने चित्त में या पराये के चित्त में संयम करने के विषय में टीकाकारों में मतभेद है । विज्ञानभिक्षु का मत है कि संयम द्वारा अपने चित्त की वृत्ति का साक्षात्कार कर लेने पर योगी संकल्पमात्र से ही दूसरे के चित्त की बातें जान लेता है । वाचस्पति मिश्र और भोजराज के मत से यहाँ पर 'प्रत्यय' शब्द का अर्थ है—'दूसरों का चित्त' । मेरे विचार से 'संयम' एकाग्रता की विशेष शक्ति है । शक्ति का प्रयोग जहाँ भी किया जायेगा, उसका प्रभाव होगा ।

छन्दोबद्ध सार

हो जाता है चित्त पर यदि संयम-संधान ।
योगी को मिलता तुरत, है चित्तों को ज्ञान ।।

⊛ चित्त के आलम्बन का ज्ञान होने का निषेध ⊙

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ।।20।।

शब्दार्थ—न च = और नहीं । तत् = उस परचित्त का ज्ञान । सालम्बनम् = आलम्बन सहित है । तस्य = उसके । अविषयीभूतत्वात् = योगी के संयम का विषय न होने से ।

सूत्रार्थ—दूसरों का चित्त अपने विषय सहित साक्षात् नहीं होता, क्योंकि वह संयम का विषय नहीं है ।

रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति । परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगिचित्तेन नालम्बनीकृतम् । परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्तस्य आलम्बनीभूतमिति ।।20।।

पूर्व (सूत्रोक्त संयम में योगी) रागयुक्त चित्त को तो जान लेता है, किन्तु वह अमुक आलम्बन में अनुरक्त है, ऐसा नहीं जान पाता (क्योंकि) परचित्त का जो आलम्बन विषय है, योगी के चित्त के द्वारा उसका आलम्बन नहीं किया गया; केवल पर प्रत्यय ही योगी के चित्त का आलम्बनीभूत विषय बना था ।

योगदीपिका

अन्य व्यक्ति में चित्त में संयम करने से योगी उसमें व्याप्त राग-द्वेषादि भावों को तो जान लेता है, किन्तु उस व्यक्ति का किस पदार्थ, व्यक्ति, पशु-पक्षी या प्राणी में राग-द्वेष है, इसे योगी नहीं जानता क्योंकि उनको उसने संयम का विषय नहीं बनाया था । योगी जिन विषयों को या वस्तुओं को संयम का विषय बनाता है, उन्हीं का ज्ञान होता है, इतर का नहीं ।

छन्दोबद्ध सार

अन्य व्यक्ति के चित्त में जब संयम हो आता ।
राग-द्वेष का ज्ञान व्याप्त उसमें हो जाता ।।
किन्तु विषय जो राग-द्वेष का वह न सामने आता ।
योगी द्वारा क्योंकि विषय वह नहीं बनाया जाता ।।

❁ अन्तर्द्धान-सिद्धि ❁

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः-
प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम् ॥21॥

शब्दार्थ—कायरूपसंयमात् = शरीर के रूप में संयम करने से । तद् ग्राह्य-शक्तिस्तम्भे = उसकी रूप की ग्राह्य शक्ति रुक जाने पर । चक्षु:प्रकाश-असम्प्रयोगे = दूसरे की आँखों के प्रकाश का संयोग न होने से । अन्तर्धानम् = योगी को अन्तर्धा प्राप्त होती है ।

सूत्रार्थ—अपने शरीर के रूप में संयम करने से रूप की ग्राह्यशक्ति रुक जाती है, इससे दूसरे की आँखों के प्रकाश का योगी के शरीर के रूप से सन्निकर्ष न होने के कारण योगी का शरीर छिप जाता है ।

कायस्य रूपे संयमाद्रूपस्य या ग्राह्या शक्तिस्तां प्रतिबध्नाति । ग्राह्य-शक्तिस्तम्भे सति चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥21॥

शरीर के रूप में 'संयम' से रूप की जो ग्राह्यशक्ति है, योगी उसको रोक देता है । रूप की ग्राह्यशक्ति के स्तम्भित होने पर चक्षु के प्रकाश का शरीर के रूप के साथ संयोग न होने के कारण, योगी में अन्तर्धान की योग्यता उत्पन्न होती है । इससे शब्द आदि का अन्तर्धान कहा गया जान लेना चाहिए ।

योगदीपिका

चक्षु ग्रहण-शक्ति है और रूप ग्राह्य-शक्ति है । इन दोनों शक्तियों के संयोग से देखने का काम होता है । योगी संयम द्वारा शरीर के रूप की ग्राह्य-शक्ति को रोक देता है । शब्द, रूप, रस, गन्धादि को उनसे उठती तरंगें सम्बन्धित इन्द्रियों तक पहुँचाती हैं और इन्द्रिय सम्बन्धित विषय स्नायुतन्त्र के माध्यम से मस्तिष्क तक पहुँचते हैं, जहाँ उनकी परख होती है । जब किसी वस्तु पर प्रकाश पड़ता है तो वह परावर्तित होकर हमारी आँख की पुतली पर पड़ता है, जो कैमरे के लेन्स जैसा कार्य करती है । इस पुतली से गुजर कर ये किरणें पीछे की ओर एक निश्चित दूरी पर उसका बिम्ब बनाती हैं । इस बिम्ब के साथ जो स्नायु जुड़े रहते हैं, वे इसकी सूचना मस्तिष्क को देते हैं । इस प्रकार मस्तिष्क उस वस्तु का ज्ञान करता है । 'संयम' योगसिद्धि के उपरान्त साधक के चाहने पर प्रकाश-तरंगों का क्रम अवरुद्ध हो जाता है और वह अन्तर्धान हो जाता है और तब उसका रूप दृष्टिकोचर नहीं हो पाता है । 'अन्तर्द्धान' का शाब्दिक अर्थ होता है—भीतर स्थिर होना अर्थात् बाह्य दृष्टियों से गृहीत न होते हुए स्थित रहना । इस प्रकार अन्तर्धान का अर्थ गायब हो जाना नहीं, वरन् पास रहते हुए भी दृष्टि में न आना है । इसी प्रकार शब्द में संयम करने पर

योगी का शब्द कोई नहीं सुन सकता है। इसी प्रकार स्पर्श में संयम कर लेने पर उसे कोई छू नहीं सकता है। इसी प्रकार अन्य विषयक सिद्धियाँ भी उपलक्षण से समझ लेनी चाहिए।

छन्दोबद्ध सार

निजदेह पर जब 'संयम' प्रयोग होता
परिणाम उसका विशेष बतलाता हूँ।
ग्राह्य-शक्ति नेत्रों की, प्रकाश की तरंगें रोक
रोक देता योगी, तथ्य को समक्ष लाता हूँ।
दर्शकों के नेत्रों मध्य रूप-बिम्ब बनता न
अस्तु, रूप न दिखाई देता, समझाता हूँ।
अन्तर्धान योगी वह देता न दिखाई तब
यही है वैज्ञानिक रहस्य प्रकटाता हूँ।

⊛ संयम द्वारा आयु-ज्ञान ⊛

सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च कर्म, तत्संयमाद-परान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥22॥

शब्दार्थ—सोपक्रमम् = शीघ्र फल देने वाले। निरुपक्रमम् = देर से फल देने वाले। कर्म = कर्म। तत् संयमात् = उन कर्मों में संयम करने से। अपरान्त-ज्ञानम् = मृत्यु का ज्ञान होता है। अरिष्टेभ्यः = मृत्युसूचक चिह्नों से। वा = अथवा।

सूत्रार्थ—कर्म दो प्रकार के होते हैं—शीघ्र फल देने वाले और विलम्ब से फल देने वाले। उन कर्मों में संयम करने से मृत्यु का ज्ञान होता है अथवा मृत्यु के ज्ञापक चिह्नों से योगी को मृत्यु का ज्ञान होता है।

आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र यथाऽऽर्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्, यथा च तदेव सम्पिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा चाऽग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम्, यथा वा स एवाग्नि-स्तृणराशौ क्रमतोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण देहत्तथा निरुपक्रमम्। तदैकभवि-कमायुष्करं कर्म द्विविधं—सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्संयमादपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानम्, अरिष्टेभ्यो वेति। त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिक-माधिदैविकं चेति। तत्राध्यात्मिकं—घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति, ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति। तथाधिभौतिकं—यमपुरुषान्पश्यति,

पितृनतीतानकस्मात्पश्यति । तथाधिदैविकं—स्वर्गमकस्मात्सिद्धान्वापश्यति, विपरीतं वा सर्वमिति । अनेन वा जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति ॥22॥

आयु रूपी फल को देने वाला कर्म 'सोपक्रम' और 'निरुपक्रम' नाम से दो प्रकार का है । उनमें सोपक्रम कर्म ऐसा होता है, जिसमें गीला वस्त्र फैला देने से वह अल्पकाल में सूख जाता है, किन्तु उसी वस्त्र को एकत्रित कर उसका पिण्ड बना देने से वह देर में सूखता है, वह निरुपक्रम कर्म होता है । (अथवा) जैसे सूखी घास पर पड़ी हुई आग वायु पाकर उसे तुरन्त जला देती है वह सोपक्रम है; किन्तु वही आग यदि बहुत घासों में क्रमशः एक-एक अंश पर डाली जाने पर देर में जलाती है, वह निरुपक्रम है । वह एक जन्म में होने वाला कर्म आयु रूपी फल देने वाला दो प्रकार का है—सोपक्रम और निरुपक्रम । उसमें किये गये संयम से मृत्युकाल का ज्ञान होता है अथवा यह अरिष्टों से होता है ।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक नाम से तीन प्रकार का अरिष्ट है । इनमें से आध्यात्मिक अरिष्ट यह है कि शरीर के अन्दर स्थित ध्वनि को कान बन्द करने पर नहीं सुनता या आँखे बन्द करने पर चमकीले प्रकाश को नहीं देखता । उसी प्रकार आधिभौतिक अरिष्ट यह कि यमदूतों को प्राणी देखता है । आधिदैविक अरिष्ट यह कि अकारण ही स्वर्ग को या सिद्धों को देखता है या सब कुछ उल्टा देखता है । इससे भी प्राणी जान जाता है कि मृत्यु आ गयी है ।

योगदीपिका

आयु नियत करने वाले पूर्वजन्म के कर्म दो प्रकार के होते हैं । प्रथम 'सोपक्रम' अर्थात् वे कर्म जो आयु समाप्त करने का काम पूरे वेग से कर रहे हैं, जिनका बहुत-सा फल हो गया है, और कुछ शेष है । दूसरे 'निरुपक्रम' अर्थात् वे कर्म जो मन्दवेग वाले हैं, जिन्होंने आयु भोगने का कार्य अभी तक आरम्भ नहीं किया है । 'सोपक्रम कर्म' शीघ्र परिणाम देते हैं जैसे शुष्क तृण पर वायु युक्त प्रदेश में फेंकी अग्नि शीघ्र तृणसंचय को जला देती है । 'निरुपक्रम कर्म' विलम्ब से फल देने वाले होते हैं—जैसे हरित तृण पर वायु रहित स्थान में अग्नि देर में जलाने का कार्य कर पाती है । इन दोनों प्रकार के कर्मों पर संयम करके योगी जीवन की अवधि और मरण-काल जान सकता है ।

कुछ चिह्न मृत्युसूचक हैं, जिन्हें 'अरिष्ट' कहा जाता है । जैसे कान बन्द करने पर भीतर की सनसनाहट या ध्वनि को न सुन पाना । मरे हुए पुरुषों का इस प्रकार दिखायी देना मानों सामने खड़े हों । अकस्मात् सिद्धों का दिखाई देना अथवा ग्रह-नक्षत्रों का उल्टा-पुल्टा दिखाई देना ।

प्रथम संयम द्वारा मृत्यु-ज्ञान तो मात्र योगियों को होता है, किन्तु दूसरा अरिष्टों द्वारा मृत्यु ज्ञान तो योगीतर जनों को भी हो सकता है ।

छन्दोबद्ध सार

'सोपक्रम', 'निरुपक्रम' दोनों पूर्वजन्म के कर्म-विभाग ।
इनके भोग हेतु नव तन धारण फिर तन का होता त्याग ।।
इन पर संयम के द्वारा जब योगी ध्यान लगाता है ।
कितनी आयु शेष भोगों की, उसे ज्ञान हो जाता है ।।

⊛ मैत्री आदि भावों में संयम का फल ⊛

मैत्र्यादिषु बलानि ।।23।।

शब्दार्थ—मैत्री-आदिषु = मैत्री आदि में (संयम करने से) । बलानि = मैत्री विषयक बल ।

सूत्रार्थ—मैत्री, करुणा एवं मुदिता में संयम करने से तद् विषयक बल प्राप्त होता है ।

मैत्रीकरुणामुदितेति तिस्रो भावनाः । तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते । दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते । पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते । भावनातः समाधिर्यः स संयमः । ततो बलान्यबन्ध्यवीर्याणि जायन्ते । पापशीलेषूपेक्षा न तु भावना । ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरित्यतो न बलमुपेक्षातस्तत्र संयमाभावादिति ।।23।।

'मैत्री', 'करुणा', 'मुदिता—ये तीन भावनाएँ हैं । इन तीनों भावनाओं मे से (योगी) सुखी प्राणियों के प्रति 'मैत्री' भावना को रखकर के मैत्री बल को प्राप्त करता है । दु:खी प्राणियों के प्रति 'करुणा' भावना करके करुणा बल की प्राप्ति करता है । पुण्यात्माओं के प्रति 'मुदिता' की भावना करके मुदिता बल को प्राप्त करता है । भावना से जो समाधि उत्पन्न होती है, वह 'संयम' कही जाती है । उस समाधिजन्य संयम से अप्रतिहत बल उत्पन्न होता है । पापियों में उपेक्षा की जाती है, भावना नहीं; इसलिए उसमें धारणा, ध्यान, समाधि नहीं होती है । इसी कारण 'उपेक्षा' से बल प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि उसमें संयम नहीं किया जाता है ।

योगदीपिका

प्रथम पाद के तैतीसवें सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता ये तीन भावनाएँ मन: शान्ति के लिए आवश्यक बतायी गयी हैं । इन तीनों पर संयम करने से सम्बन्धित बलों की प्राप्ति होती है । मैत्री पर संयम करने से प्राणियों के प्रति मैत्रीपूर्ण सद्भाव की वृद्धि होगी, देवदनुजमनुजादि जिस प्राणी की मैत्री योगी चाहेगा उसे मिलेगी ।

करुणा पर संयम करने से सब की करुणा प्राप्त होगी। मुदिता पर संयम करने से अखण्ड प्रसन्नता की उपलब्धि होगी। चौथा उपेक्षा अर्थात् उदासीनता अभावात्मक पदार्थ है, अत: वह 'संयम' का विषय नहीं बन सकता है। 'उपेक्षा' संयम योग्य भावना नहीं अस्तु भावनीय नहीं, त्याज्य है। यहाँ पर 'संयम' के विषयों में 'उपेक्षा' को ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि वह अभावरूपिणी है और सकारात्मकता से शून्य है। निष्कर्षत: 'संयम' के विषय मैत्री, करुणा, मुदिता हैं, उपेक्षा नहीं है।

छन्दोबद्ध सार

मैत्री, करुणा, मुदिता पर संयम यदि योगी करता।
तदनुकूल बल भाव-रत्न से अपनी झोली भरता॥

⊛ बलों पर संयम का फल ⊛

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥24॥

शब्दार्थ—बलेषु = बलों में (संयम करने पर)। हस्तिबलादीनि = हाथी आदि के बल के समान।

सूत्रार्थ—हाथी आदि बलिष्ठ प्राणियों के बलों में संयम करने से उनके बल के समान ही बल प्राप्त होते हैं।

हस्तिबले संयमाद्धस्तिबलो भवति। वैनतेयबले संयमाद् वैनतेयबलो भवति। वायुबले संयमाद् वायुबल इत्येवमादि ॥24॥

हाथी के बल मे संयम करने से योगी हाथी के समान बल से सम्पन्न हो जाता है। गरुड़ के बल में संयम करने से गरुड़ के सदृश बलवान् हो जाता है। वायु के बल में संयम करने से वायु के समान बलधारी हो जाता है। इसी प्रकार से अन्य को भी समझ लेना चाहिए।

योगदीपिका

जिस प्राणी अथवा पदार्थ के बल की प्राप्ति की इच्छा से साधक उसमें संयम करता है, उसी प्राणी और पदार्थ के समान बल का विकास साधक में होने लग जाता है। हाथी, घोड़ा, गरुड़, सिंह, वायु आदि बल के निधान हैं, उनके बल पर धारणा-ध्यान-समाधि युक्त चेतना से जब उनके बल के सन्निवेश की इच्छा साधक करेगा, तो तद्वत् बल, स्फूर्ति, ऊर्जा का उसमें संचार होना एक मनावैज्ञानिक सत्य है। इस विषय में यह नहीं समझना चाहिए कि बल एक काँटे की तौल का आयेगा। बल और ऊर्जा का संचार एक सीमा तक अवश्य होगा, यह समझना अधिक समीचीन है।

छन्दोबद्ध सार

हस्त्यादिक के बल पर संयम योगी यदि करता जाये ।
उनके सदृश शक्ति आयेगी, योगशास्त्र यह बतलाये ॥

⊛ ज्योतिष्मती प्रवृत्ति में संयम का फल ⊛

प्रवृत्त्याऽऽलोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहित-
विप्रकृष्टज्ञानम् ॥25॥

शब्दार्थ—प्रवृति-आलोकन्यासात् = प्रवृत्ति के प्रकाश के डालने से । सूक्ष्म = सूक्ष्म (इन्द्रियातीत) । व्यवहित = व्यवधानयुक्त (ओट में रहने वाली) । विप्रकृष्ट = दूरस्थ वस्तुओं का । ज्ञानम् = ज्ञान होता है ।

सूत्रार्थ—ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का प्रकाश डालने से वह वस्तु चाहे सूक्ष्म हो, चाहे पर्दे में हो, चाहे दूरस्थ प्रदेश में हो, उसका ज्ञान योगाभ्यासी साधक को हो जाता है ।

ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसः । तस्यां य आलोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वाऽर्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति ॥25॥

मन की ज्योतिष्मती (विशोका) प्रवृत्ति कही गयी है (योगदर्शन 1:36) । उसका जो प्रकाश है—उसको डालकर उसके आलोक में योगी सूक्ष्म का या व्यवधान युक्त या दूरस्थ वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।

योगदीपिका

इस सूत्र में संयम द्वारा उपलब्ध होने वाली नवें प्रकार की सिद्धि की चर्चा है । तीन प्रकार की वस्तुओं का प्रत्यक्ष सामान्यत: इन्द्रियों द्वारा नहीं हो पाता है । जैसे अतिसूक्ष्म परमाणु, महत्तत्त्व आदि । दूसरी व्यवहित अर्थात् जो किसी पर्दे में छिपी हो, जैसे समुद्र में रत्न, खान में सुवर्णादि । तीसरी दूर देश में विद्यमान जैसे हिन्दुस्तान में बैठे लोगों के लिए अमेरिका में स्थित वस्तुएँ । योगी को सूक्ष्म से सूक्ष्मतम का, दूर से दूरतम का अथवा गहरे आवरण में छिपे पदार्थों का भी ज्ञान हो जाता है । समाधिपाद के छत्तीसवें सूत्र में बताया गया है कि निरन्तर अभ्यास-बल से साधक के चित्त के निर्मल हो जाने पर हृदय-कमल में ध्यान करने से ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का उदय होता है । इसके आलोक में सूक्ष्म से सूक्ष्मतम, गुप्त से गुप्ततम, दूर से दूरतम का परिज्ञान संभव हो जाता है ।

छन्दोबद्ध सार

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति जिस समय योगी में है जग जाती ।
उसमें संयम करने से है शक्ति विलक्षण यों आती ।।
कितना भी हो सूक्ष्म, दूर या गुप्त, न रह पाता अज्ञात ।
संयम से इस भाँति शक्तियाँ योगी में आतीं पर्याप्त ।।

⊛ सूर्य पर संयम का फल ⊛

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमाद् ।।26।।

शब्दार्थ—सूर्ये = सूर्य में । संयमात् = संयम करने से । भुवनज्ञानम् = समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है ।

सूत्रार्थ—सूर्य में संयम करने से उससे सम्बद्ध लोक-लोकान्तरों का ज्ञान हो जाता है ।

तत्प्रस्तारः सप्तलोकाः । तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येष भूर्लोकः । मेरुपृष्ठादारभ्याऽऽध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः । तत्परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः । चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः । त्रिविधो ब्राह्मः, तद्यथा—जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति ।

'ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान् ।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः' ।।

इति संग्रहश्लोकः । तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमःप्रतिष्ठा महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः । यत्र स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते । ततो महातलरसातलातलसुतलवितलतलातलपातालाख्यानि सप्त पातालानि । भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः । तस्य राजतवैदूर्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि । तत्र वैदूर्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः । श्वेतः पूर्वः, स्वच्छ पश्चिमः, कुरुण्डकाभ उत्तरः । दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूः, यतोऽयं जम्बूद्वीपः । तस्य सूर्यप्रचाराद्रात्रिन्दिवं लग्नमिव विवर्तते । तस्य नीलश्वेतशृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वता द्विसहस्रायामाः ।

तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसाहस्राणि रमणकं हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति । निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसाहस्रायामाः । तदन्तरेषु त्रीणिं वर्षाणि नवनवयोजनसहस्राणि हरिवर्षं किम्पुरुषं भारतमिति ।

सुमेराः प्राचीना भद्राश्वा माल्यवत्सीमानः । प्रतीचीनाः केतुमाला गन्धमादनसीमानः । मध्ये वर्षमिलावृतम् । तदेतद्योजनशतसाहस्रं, सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम् । स खल्वयं शतसाहस्रायामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः । ततश्च द्विगुणाः द्विगुणाः शाककुशक्रौञ्चशाल्मलमगधपुष्करद्वीपाः सप्तसमुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकाः । सप्तसमुद्रपरिवेष्टिताः । वलयाकृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसंख्याताः । तदेतत्सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढम् । अण्डं च प्रधानस्याणुरवयवो यथाकाशे खद्योत इति । तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुरगन्धर्वकिन्नरकिम्पुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरोब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति । सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः । सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः । तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि । सुधर्मा देवसभा । सुदर्शनं पुरम् । वैजयन्तः प्रासादः । ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेपनियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि सन्निविष्टा विपरिवर्तन्ते । माहेन्द्रनिवासिनः षड् देवनिकायाः—त्रिदशाः, अग्निष्वात्ताः, याम्याः, तुषिताः, अपरिनिर्मितवशवर्तिनः, परिनिर्मितवशवर्तिनश्चेति ।

ते सर्वे सङ्कल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिवाराः । महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः—कुमुदाः, ऋभवः, प्रतर्दनाः, अञ्जनाभाः, प्रचिताभा इति । एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः । प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायः—ब्रह्मपुरोहिताः, ब्रह्मकायिकाः, ब्रह्ममहाकायिकाः, अजरामरा इति । एते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः । द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः—आभास्वराः, महाभास्वराः, सत्यमहाभास्वरा इति । एते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः, सर्वे ध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः । तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकायाः—अच्युताः, शुद्धनिवासाः, सत्याभाः संज्ञासंज्ञिनश्चेति । अकृतभवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत्सर्गायुषः । तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः । शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः । सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः । संज्ञासंज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखाः । तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतितिष्ठन्ति । त एते सप्त लोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः । विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते, न लोकमध्ये न्यस्ता इति । एतद्योगिनां साक्षात्कर्त्तव्यं सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा, ततोऽन्यत्रापि एवं तावदभ्यसेद्यावदिदं सर्वं दृष्टमिति ॥26॥

भुवन का विस्तार सात लोकों में हैं । उनमें अवीचि से मेरु पृष्ठ तक भूर्लोक है । मेरु पृष्ठ से ध्रुव तक ग्रह, नक्षत्र तथा ताराओं से विचित्र अन्तरिक्ष लोक है । उसके परे पाँच प्रकार के स्वर्लोक हैं । तृतीय माहेन्द्रलोक है, चतुर्थ प्राजापत्य महर्लोक है । इसके बाद त्रिविध ब्रह्मलोक है, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक है । तीन भूमियों वाला ब्रह्मलोक, उसके पश्चात् महान प्राजापत्यलोक है । उसके पश्चात् माहेन्द्रलोक जो कि स्व: नामक लोक कहा गया है और जिसके अन्तरिक्ष में तारे और भूमि पर प्रजा है; ऐसा 'संग्रह श्लोक' में कथित है ।

वहाँ नीचे से ऊपर ही ऊपर स्थित धन, सलिल, अनल, अनिल, आकाश और अन्धकार में स्थित क्रमशः महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र अन्धतामिस्र नामक छ: महानरक भूमियाँ है, जहाँ अपने कर्मों से अर्जित दु:खानुभूति करने वाले प्राणी कष्टपूर्वक लम्बी आयु को भोग करके जन्म लेते हैं । यहाँ तक सात लोकों का वर्णन हुआ ।

उसके पश्चात् महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल नामक सात पाताललोक हैं । यह सप्तद्वीपा वसुमती पृथिवी आठवीं है, जिसके मध्य सुवर्ण शैल पर्वतराज सुमेरु है । उसके रजत, वैदूर्य, स्फटिक और हेममणि युक्त शृंग हैं । वहाँ वैदूर्य रश्मि रंजित नीलकमल पत्र की श्यामता के सदृश आकाश का दक्षिण भाग है । पूर्व का आकाश भाग श्वेत है । पश्चिम का आकाश भाग स्वच्छ है । उत्तर का आकाश भाग कुरुण्ड (स्वर्ण वर्ण पुष्पविशेष) की आभा से मण्डित है । इसके दक्षिण पार्श्व में जम्बू वृक्ष है, जिसके कारण यह जम्बूद्वीप कहा जाता है । उस जम्बूद्वीप से लगे हुए सूर्य के संचार से रात और दिन होते रहते हैं । उसके उत्तर में नील, श्वेत और शृंगवान् नामक तीन पर्वत दो-दो सहस्रयोजन विस्तार वाले हैं ।

उसके बीच में रमणक, हिरण्यमय और उत्तरकुरु नामक तीन वर्ष (देश) हैं, जो नौ-नौ हजार योजन विस्तार वाले हैं । दक्षिण में दो-दो हजार योजन वाले निषध, हेमकूट और हिमालय पर्वत हैं । इनके बीच में नव-नव हजार योजन वाले तीन वर्ष (देश) हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारत है । सुमेरु से पूर्व में माल्यवान् सीमा वाला भद्राश्व है । पश्चिम में गन्धमादन सीमा वाला केतुमाल है । बीच में इलावृत वर्ष है । वे सौ हजार योजन विस्तार वाले सुमेरु के चारों दिशाओं में उसके आधे अर्थात् 50 सहस्र योजन विस्तार वाले हैं ।

वह एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है और अपने से दुगुने विस्तार वाले वलयाकार लवणोदधि से घिरा है । उससे क्रमशः दुगुने, तिगुने विस्तार वाले शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मल, मगध, पुष्कर नामक द्वीप वाले, सरसों के ढेर के सदृश चित्र-विचित्र तटीय पर्वतों वाले, इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, मण्ड, दुग्ध के स्वाद युक्त जल वाले सात समुद्र हैं । सातों समुद्रों से घिरा हुआ वलयाकार लोक,

आलोकादि पर्वत समूह 50 करोड़ योजन विस्तार वाले कहे गये हैं । वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के मध्य पृथक्-पृथक् निबद्ध हैं और ये ब्रह्माण्ड प्रकृति का वैसे ही छोटा-सा भाग है, जैसे कि आकाश में जुगुनू । उनमें से पाताल, समुद्र और इन पर्वतों मे असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सरा, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड और विनायक नामक देवगण रहते हैं । सभी द्वीपों में पुण्यात्मा देवता तथा मनुष्य रहते हैं । सुमेरुपर्वत देवताओं की उद्यान भूमि है । वहाँ पर मिश्रवन, नन्दन, चैत्ररथ और सुमानस ये उपवन हैं । सुधर्मा नाम की देवसभा, सुदर्शन नाम की नगरी और वैजयन्त नामक महल है । ग्रह, नक्षत्र और तारे ध्रुव में बँधे हुए-से वायु-विक्षेप के नियम से प्रकटित गति वाले, सुमेरु के ऊपर ही ऊपर संस्थित अन्तरिक्ष में भ्रमण करते रहते हैं ।

महेन्द्र लोक के निवासी छः प्रकार के देव-वर्ग हैं—त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित वशवर्ती और परिनिर्मित वशवर्ती । वे सभी सिद्ध मनोरथ, अणिमादि विभूति सम्पन्न, कल्प के बराबर आयु वाले, पूज्य, काम्यविषय भोगी, संकल्पमात्र से निर्मित दिव्यशरीरधारी, उत्तम अनुकूल अप्सराओं के साथ परिवार बना कर रहने वाले हैं । महः नामक प्राजापत्य लोक में पाँच प्रकार के देव निकाय हैं—कुमुद, ऋभव, प्रतर्दन, अंजनाभ और प्रचिताभ । ये महाभूतों पर स्वामित्व रखने वाले ध्यान-सुखाश्रित सहस्रकल्प आयु वाले होते हैं । ब्रह्मलोक के प्रथम भाग जनलोक में चार प्रकार के देवगण हैं—ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्म महाकायिक और अजरामर । ये महाभूतों और इन्द्रियों पर अधिकार रखने वाले क्रमशः दुगुने-दुगुने आयु वाले होते है ।

ब्रह्मलोक के द्वितीय 'तपोलोक' में तीन प्रकार के देवगण हैं—आभास्वर, महाभास्वर और सत्यमहाभास्वर । ये महाभूतों और इन्द्रियों और प्रकृति पर अधिकार रखने वाले क्रमशः दुगुने-दुगुने आयुवाले, सबके सब ध्यान-सुखजीवी, ऊर्ध्वरेता, सत्य नामक ऊर्ध्व लोक के विषय में अव्याहत ज्ञान वाले, जनलोक प्रभृति अधर भूमियों के विषय में सुस्पष्ट ज्ञान वाले होते हैं ।

बह्मलोक के तृतीय लोक सत्यलोक में चार देवसमूह हैं—अच्युत, शुद्ध निवास, सत्याम और संज्ञासंज्ञी । ये सब भवनस्थापन-रहित, अपने आप में आश्रित (निराधार), ऊपर-ऊपर स्थित, प्रकृति पर अधिकार रखने वाले और सृष्टि के बराबर आयु वाले हैं ।

उनमें से अच्युत देवगण सवितर्क समाधि-सुखसम्पन्न होते हैं । शुद्ध निवास, सविचार समाधि-सुखसम्पन्न होते हैं । सत्याभ आनन्द समाधि-सुखसम्पन्न होते हैं । संज्ञासंज्ञी अस्मिता समाधि-सुखसम्पन्न होते हैं । वे भी त्रिलोक के मध्य में रहते हैं । वे ये सात लोक सारे ब्रह्मलोक ही हैं । विदेह प्रकृति लय तो मोक्ष में रहते हैं, वे लोकों में नहीं रहते हैं ।

विविध प्रमाणों द्वारा जिसे जाने-माने नहीं
तो भी सत्य माने, जान लोक में प्रचार है ।
सत्य का विकल्प मान लिए ज्ञान कल्पित को
करने उद्योग भी लगे तदनुसार है ।
योग में जो बाधक तो 'क्लिष्ट' वृत्ति जानो इसे
साधक जो तो 'अक्लिष्ट' करना विचार है ।

⊛ निद्रावृत्ति के लक्षण ⊛

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥10॥

शब्दार्थ—अभावप्रत्ययालम्बना = अभाव के ज्ञान का अवलम्बन (ग्रहण) करने वाली । वृत्तिः = वृत्ति । निद्रा = निद्रा है ।

सूत्रार्थ—जाग्रत् और स्वप्नावस्था के किसी भी विषय के ज्ञान के अभाव का नाम निद्रा है ।

सा च सम्प्रबोधे प्रत्यवमर्शात्प्रत्ययविशेषः । कथम् ? सुखमहमस्वाप्सम्, प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति । दुःखमहमस्वाप्सम्; स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम् । गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्; गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तं मे चित्तम्: अलसं मुषितमिव तिष्ठतीति । स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे; तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः । तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा । सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥10॥

और जागने पर निद्रा-सम्बन्धी स्मृति के आने से वह 'निद्रा' भी एक प्रकार का विशेष प्रत्यय (ज्ञान) है । यह कैसे ? 'मैं सुख की नींद सोया, मेरा मन प्रसन्न है तथा मेरी बुद्धि को विमल कर रहा है' । अथवा 'मैं दुःख की नींद सोया, मेरा मन अकर्मण्य, चंचल हुआ, अस्थिर, भटक रहा है' ? अथवा 'मैं गहरी नींद में मूढ़ावस्था में सोया' । 'मेरे अंग भारी हो रहे हैं । मेरा चित्त थका हुआ, अलसाया और खोया खोया-सा है' । जागे हुए व्यक्ति की ऐसी स्मृति बिना इस प्रकार के अनुभव परक ज्ञान के नहीं होनी चाहिए । उस अनुभूति पर टिकी रहने वाली स्मृतियाँ भी उसके विषय में नहीं होनी चाहिए । इस प्रकार निद्रा भी एक विशिष्ट कोटि का ज्ञान अथवा वृत्ति है । वह निद्रा भी समाधिकाल में अन्य वृत्तियों के सदृश निरुद्ध को जानी चाहिए ।

योगदीपिका

अनेक दार्शनिकों ने निद्रा को वृत्ति न मानकर सुषुप्ति अवस्था माना है । निद्रा एक 'वृत्ति' है, इसका बोध कराने के लिए सूत्रकार ने सूत्र में निद्रा के साथ 'वृत्ति'

पद का प्रयोग किया है। निद्रा भी एक विशिष्ट चित्तवृत्ति है; तभी तो निद्रा से उठकर व्यक्ति निद्रा विषयक अनुभूति का वर्णन करता है कि 'मैं सुख से सोया' आदि अपने निद्राविषयक अनुभव बताता है। इसलिए निद्रा ज्ञान का अभाव नहीं है, अपितु 'वृत्ति' है।

निद्रा वृत्ति भी 'क्लिष्ट' और 'अक्लिष्ट' दो प्रकार की होती है। स्फूर्ति और ऊर्जा जगाने वाली योगसाधना में साधक बनने वाली निद्रा 'अक्लिष्ट' तथा प्रमाद, आलस्य, भारीपन, अकर्मण्यता लाने वाली योगसाधना की बाधक निद्रा 'क्लिष्ट' है। योगिराज श्रीकृष्ण ने गीता में निद्रावृत्ति के अक्लिष्ट रूप की चर्चा इस प्रकार की है—

> युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
> युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ (गीता 6:17)

दुःखनाशक योग तो यथोचित आहार-विहार करने वालों का, कर्मो में यथोचित चेष्टा करने वालों का तथा यथोचित सोने और जागने वालों का ही सिद्ध होता है।

छन्दोबद्ध सार

निद्रा में समस्त ज्ञान का अभाव होता, किन्तु
जागने पै निद्रा ज्ञान का न जाता ज्ञान है।
सोने वाला जगकर कहे निद्रा-अनुभव
अस्तु, निद्रा ली गयी है वृत्ति एक मान है।
सच पूछा जाये तो सुखद निद्रा काल भी तो
लगभग गहन समाधि के समान है।
साधना में बाधक तो नींद 'क्लिष्ट' वृत्ति मानो
साधक अगर तो 'अक्लिष्ट पहचान है।

❀ स्मृतिवृत्ति के लक्षण ❀

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥11॥

शब्दार्थ—अनुभूतविषयासम्प्रमोषः = अनुभव किये हुए विषय का न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना। स्मृतिः = स्मृति है।

सूत्रार्थ—अनुभव किये हुए विषय जो अन्तर्मन में पड़े हुए हैं, अनुकूल प्रसंग पाकर उभर आयें और चेतना में छा जायें, तो 'स्मृति' है।

किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरत्याहोस्विद्विषयस्येति ? ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तथाजातीयकं संस्कारमारभते । स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति । तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः । सा च द्वयी—भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च । स्वप्ने भावितस्मर्तव्या, जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति। सर्वाश्चैताः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात्प्रभवन्ति । सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः । सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः । सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः, मोहः पुनरविद्येति । एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः । आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसम्प्रज्ञातो वेति ॥11॥

क्या चित्त ज्ञान का स्मरण करता है, अथवा ज्ञान के विषय का स्मरण करता है ? ग्राह्य विषय से जुड़ा हुआ तथा ग्राह्य विषय और ज्ञान दोनों के आकार में भासित होने वाला पूर्वविषयानुभव उसी प्रकार के संस्कार बनाना आरम्भ करता है । अपने अभिव्यञ्जक अर्थात् उद्बोधक प्रसंग से उद्बुद्ध हुआ वह संस्कार विषयक तथा अनुभव की उभयात्मिका स्मृति को उत्पन्न करता है । उसमें ज्ञानाकार प्रधान अंश तो ज्ञान का अनुभव है और अनुभूत विषयाकार प्रधान अंश शुद्ध स्मृति है । स्मृति दो प्रकार की होती है—कल्पित और यथार्थ । स्वाप्निक स्मृति कल्पित एवं जाग्रत्काल की स्मृति यथार्थ विषयक स्मृति होती है । ये सभी वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के अनुभव से जुड़ी हुई होती हैं । ये सभी वृत्तियाँ सुख-दुःख एवं मोहात्मक होती हैं । सुख-दुःख एवं और मोह की व्याख्या क्लेशों के प्रसंग में सविस्तार की जानी चाहिए । सुख का अनुगामी राग और दुःख का अनुगामी द्वेष है; मोह तो साक्षात् अविद्या ही है । ये सभी वृत्तियाँ निरुद्ध की जानी चाहिए । इन सबके निरोध हो जाने पर 'सम्प्रज्ञात' या 'असम्प्रज्ञात' समाधि सिद्ध होती है ।

योगदीपिका

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति आदि चित्तवृत्तियों का आश्रय लेकर सभी उनसे सम्बन्धित स्मृतियाँ अनुकूल उद्बोधक पाकर उत्पन्न होती हैं—'सर्वाश्चैताः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात् प्रभवन्ति' । (व्यासभाष्य)

तात्पर्य यह है कि जीवन में निरन्तर कोई-न-कोई घटना घटती रहती है । इन्द्रियाँ उनका अनुभव करती रहती हैं । जो घटनाएँ, विचार या भावनाएँ अधिक संवेदक होती हैं, वे अन्तर्मन में पैठ कर स्मृति बन जाती हैं । ये सभी स्मृतियाँ सुख-दुःख मोहात्मक होती हैं । ये ही संस्कार बनाती हैं, स्वभाव बनाती हैं । इन स्मृतियों की छाप या संस्कार प्रबल होकर चित्त-कोष में संचित रहते हैं और अनुकूल उद्बोधक

या निमित्त पाते ही अन्तश्चेतना से निकल कर बाह्य चेतना में छाकर क्रियाशील हो जाते हैं तथा सम्बन्धित संस्कारों को गहराते जाते हैं । अन्तर्मन में छिपे पड़े विचार या संस्कार का उभार ही स्मृति है । अनुभूत विषय यदि बुद्धि से लुप्त न हुए तो वे 'स्मृति' बन जाते हैं । निष्कर्षतः अनुभूत विषयों की चित्त में उपस्थिति होते रहना 'स्मृति' है । स्मृति की परिभाषा किसी विद्वान् ने अंग्रेजी में इस प्रकार की है—

"Memory is when the perceived objects do not slip away and through impressions come back to consciousness".

भाष्यकार ने स्वप्न को भी 'स्मृति' वृत्ति के अन्तर्गत माना है—'स्वप्ने भावितस्मर्तव्या ।' (व्यासभाष्य)

जिस स्मृति के उभार से ज्ञान-वैराग्य, एवं योग के प्रति श्रद्धा हो वह अक्लिष्ट और इसके विपरीत 'क्लिष्ट' है ।

छन्दोबद्ध सार

मन इन्द्रियों से अनुभूत जो विचार हुए
मन में उतर यादगार बन जाते हैं ।
पाते अनुकूल जो निमित्त तो उभार पाते
ताजे बन चित्त पर बार-बार आते हैं ।
ये ही स्मृति कहलाते, गहराते जाते
ये ही संस्कार बने चित्त पर छाते हैं ।
बाधक जो योग में तो 'क्लिष्ट' कहलाते और
साधक बने, तो ये 'अक्लिष्ट' नाम पाते हैं ।

अथाऽऽसां निरोधे क उपाय इति—

अब इनके निरोध का कौन-सा उपाय है ? इस विषय में बताते हैं—

⊛ चित्तवृत्तियों के निरोध के उपाय ⊛

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥12॥

शब्दार्थ—तन्निरोधः = उनका विरोध । अभ्यासवैराग्याभ्याम् = अभ्यास और वैराग्य द्वारा होता है ।

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त पाँच श्रेणी की चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य—इन दो साधनों से होता है ।

चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी । वहति कल्याणाय वहति पापाय च । या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा, संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा । तत्र वैराग्येण विषयस्त्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्त्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥12॥

चित्तरूपिणी नदी दो धाराओं में बँट कर प्रवाहित होती है । उसकी एक धारा कल्याण के लिए बहती है और दूसरी धारा पाप के लिए बहती है । जो धारा कैवल्य-मुक्तिप्रदा और विवेकवाहिका है, वही कल्याणवाहिका है और जो संसाराभिमुखी तथा अविवेकविषय-वाहिका है, वह पाप के लिए बहने वाली धारा है । उनमें से पाप-वाहिका धारा को वैराग्य के द्वारा क्षीण कर सुखा दिया जाता है । विवेक दर्शन के अभ्यास से विवेक स्त्रोत प्रवाहित कर प्रबल रूप से प्रकट किया जाता है । इस प्रकार चित्तवृत्ति-निरोध वैराग्य और अभ्यास दोनों पर ही आधारित होता है ।

योगदीपिका

सामान्य जनों के हृदयों में शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य दोनों प्रकार के विचार-संस्कार विद्यमान रहते हैं । शुभ संस्कार उन्हें उत्थान और अशुभ संस्कार पतन की ओर ले जाते हैं । भाष्यकार ने इस तथ्य को एक नदी के रूपक द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की है । चित्त एक नदी है, जो दो धाराओं में बँट कर बहती है । प्रथम कल्याणवाहिनी धारा है, जो उतनी प्रबल नहीं होती, जितनी दूसरी की पापवाहिनी धारा होती है । यह ध्यान रखकर सावधान रहना चाहिए कि जलधार की तरह मन की सहज ढलान बुराइयों और विकारों की ओर होती है । जिस चाव और सहजता से मन पाप-कर्मों में प्रवृत्त होता है, उस तरह सत्कर्मों में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है । कई पापयोनियों के पश्चात् उसे मनुष्य योनि मिली है, अस्तु पशु-संस्कार अन्तर्मन में छाये रहते हैं । उनसे सावधान रहना चाहिए । योगी को चाहिए कि पापवाहिनी धारा को अभ्यास और वैराग्य इन दो उपायों द्वारा क्षीण करके सुखा डाले तथा कल्याणवाहिनी धारा को सबल बनाये । वैराग्य उपाय के द्वारा चित्त के लौकिक और पारलौकिक विषयोन्मुख प्रवाह रोके और इस रोकने की क्रिया का सतत अभ्यास कर चित्त को एकाग्र या स्थिर करे । योगिराज श्रीकृष्ण ने इन्हीं दोनों उपायों को मनोनिग्रह के लिए उपयोगी बताया है; यथा—

> असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
> अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ॥ (गीता 6:35)

विषयों के प्रति जो अनुचित आसक्ति (attachment) है, उसका सर्वथा त्याग ही वैराग्य है । घर-बार छोड़कर जंगल जाना, भगवा पहनना, जटाजूट एवं नखशिख बढ़ाना, राख लपेटना, नग्न रहना आदि वैराग्य नहीं है । कर्म को छोड़ना

नहीं, अपितु आसक्ति का त्याग वैराग्य है । कर्मेन्द्रियों को कर्मों से रोक कर एवं मन से विषयों का चिन्तन करना दम्भ है, पाप है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ (गीता 3:6)

इस प्रकार विषयासक्ति त्यागरूपी कर्म और असत् के त्याग और सत् के ग्रहण तथा चिन्तन रूपी कर्म का सतत अभ्यास करे । इन उपायों के अभ्यास से सत्त्वगुण का विकास होगा, मानसिक एकाग्रता बढ़ेगी और तनाव घटेगा । मानसिक एकाग्रता से अभ्यासपूर्वक धीरे-धीरे सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों के निरोध की स्थिति आयेगी और 'असम्प्रज्ञात' समाधि सिद्ध होगी ।

छन्दोबद्ध सार

चित्त रूपी नदी पाप-पुण्य दोनों धारा वाली
किन्तु पाप धारा तीव्र, लोग बह जाते हैं ।
विवेक जगाये, पाप-धार को सुखाये, अस्तु
अभ्यास-वैराग्य दो उपाय को सुझाते हैं ।
अन्तर्मुखी निज को बनाये, सत्त्व भाव लाये
दु:खदोष विषयों में देखे, बतलाते हैं ।
वैराग्य को करे दृढ़ अभ्यास के द्वारा नित्य
चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध बनें, समझाते हैं ।

⊛ अभ्यास के लक्षण ⊛

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥13॥

शब्दार्थ—तत्र = उन दोनों में से । स्थितौ = (चित्त की) स्थिरता हेतु । यत्नः = प्रयत्न । अभ्यासः = अभ्यास है ।

सूत्रार्थ—उन दोनों में से अभ्यास और वैराग्य में से चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए जो बार-बार प्रयत्न किया जाता है, उसका नाम 'अभ्यास' है ।

चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः, तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः । ततसम्पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः ॥13॥

राजस और तामस चित्तवृत्तियों से शून्य चित्त का हलचलों से रहित होकर प्रशान्त दशा की प्राप्ति का नाम 'स्थिति' है । इस 'स्थिति' को स्थिर रखने के लिए जो सोत्साह प्रयत्न किया जाता है, वह 'अभ्यास' है ।

योगदीपिका

अवृत्तिकस्य चित्तस्य = 'वृत्तिविहीन चित्त के' इस वाक्यांश में वृत्तिविहीन चित्त का तात्पर्य राजस और तामस चित्तवृत्तियों का न रहना है। सात्त्विक वृत्ति का यहाँ निषेध नहीं है, क्योंकि चित्त की 'एकाग्र' स्थिति में सात्त्विक वृत्ति अवश्य रहती है। उस समय चित्त की स्थिति निस्तरंग शान्त होती है। जब सात्त्विक वृत्ति भी न रहेगी, तब गुणातीत मन 'असम्प्रज्ञात' समाधि भूमि पर होगा। वहाँ अभ्यास और वैराग्य के लिए विशेष उपाय की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस सूत्र में आगे के उपाय पहले राजस और तामस वृत्तियों की शान्ति के लिए बताये गये हैं; जिनसे सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है। अस्तु 'अवृत्तिकस्य चित्तस्य' से राजस और तामस वृत्ति-शून्यता का ही अर्थ समीचीन है। चित्त को निस्तरंग शान्त स्थिति में लाने के लिए इसी पाद के 32 से 39 सूत्रों में विधियाँ बतायी गयी हैं। ये अन्तरंग साधन हैं। बाह्य साधनों का वर्णन आसन-प्राणायाम रूप में आगे 'साधनपाद' में किया गया है। इस प्रकार स्वभावत: चंचल मन को किसी ध्येय में स्थिर करने के लिए बारम्बार चेष्टा करते रहना 'अभ्यास' है। पूर्वकथित वैराग्य भावना (detachment) के विचार बार-बार मन में लाये, यही अभ्यास है।

छन्दोबद्ध सार

रज-तम वृत्ति शून्य चित्त शान्त बना रहे
तभी योग सिद्धि की ओर चरण बढ़ाता है।
मन जो अशान्त क्लान्त चञ्चल बना रहा तो
कभी योग सिद्धि तक पहुँच न पाता है।
चित्त निज ध्येय पर शान्त बन टिका रहे
योगशास्त्र 'अभ्यास' का उपाय सुझाता है।
मन को टिकाने हेतु लगातार बार-बार
होता जो प्रयास है, **'अभ्यास'** कहा जाता है।

विशेष—इस हेतु गीता का बारहवाँ अध्याय विशेष पठनीय है।

❀ अभ्यास के दृढ़ होने का उपाय ❀

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥14॥

शब्दार्थ—तु = परन्तु। स: = वह (अभ्यास)। दीर्घकाल = लम्बे समय तक। नैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवित: = निरन्तर सादर साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जाने पर। दृढभूमिः = दृढ़भूमि पाता है।

सूत्रार्थ—चित्तवृत्तियों के निरोधजन्य योग की सिद्धि का अभ्यास श्रद्धापूर्वक निरन्तर दीर्घकाल तक करना अनिवार्य है, तभी अभ्यास दृढ़ होकर सिद्धि की दृढ़ भूमि निर्मित कर सकेगा ।

दीर्घकालासेवितो, निरन्तरासेवितः, सत्कारासेवितः । तपसा, ब्रह्म-चर्येण, विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् दृढभूमिर्भवति । व्युत्थान-संस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः ॥14॥

दीर्घकालिक, निरन्तर आचरित, श्रद्धापूर्वक सेवित तथा तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और आदरपूर्वक सम्पादित 'अभ्यास' दृढ़ भूमि प्राप्त करता है । व्युत्थान संस्कार द्वारा तत्काल ही अभिभूत नहीं होता है ।

योगदीपिका

अभ्यास काल में धैर्य रखना चाहिए, इसमें उतावलापन वर्जित है । अभ्यास को सादर साङ्गोपाङ्ग करना चाहिए । अभ्यास के प्रति श्रद्धा-विश्वास बनाये रखना चाहिए । अभ्यास काल में शीतोष्ण, सुख-दुःख जन्य आघात-सहन रूपी तप, इन्द्रिय-निग्रह, ब्रह्मचर्य, विवेक, ज्ञान-वैराग्य का पालन अनिवार्य है । अभ्यास में निरन्तरता आवश्यक है । अभ्यास में आलस्य व प्रमाद न करे । अभ्यास को अपनी दिनचर्या का अनिवार्य अंग बना ले । साधनकाल में व्युत्थानकालिक संस्कार अर्थात् सांसारिक बाधाएँ, मन के जन्म-जन्मान्तर के संस्कार तो बाधा पहुँचायेंगे ही, किन्तु साधक उनसे विचलित न होकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अभ्यास में निरन्तर लगा रहे, तभी अभ्यास दृढ़ होकर योग हेतु दृढ़ सिद्धि की भूमि बना पायेगा । इस सूत्र का भाव गीता में इस प्रकार अभिव्यक्त है—

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ (गीता 6:23)

छन्दोबद्ध सार

दीर्घकाल तक बिना ऊबे यदि सोत्साह
लगातार अभ्यास का क्रम चलता रहा ।
सादर जमाये भाव श्रद्धा का जो साङ्गोपाङ्ग
साधना में योग का प्रयोग पलता रहा ।
योग-पल्लवन हेतु दृढ़ भूमि प्राप्त होगी,
अभ्यास के द्वारा यदि विघ्न टलता रहा ।
साधक को सिद्धि मिलेगी अवश्य एक दिन
अभ्यास के साँचे में जो योग ढलता रहा ।

❁ 'वशीकार' संज्ञक अपर वैराग्य के लक्षण ❁

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥15॥

शब्दार्थ—दृष्टानुश्रविकः = देखे और सुने हुए । विषयवितृष्णस्य = विषयों में सर्वथा तृष्णारहित चित्त की । वशीकारसंज्ञा = जो वशीकार नामक अवस्था है । वैराग्यम् = वैराग्य है ।

सूत्रार्थ—देखे और सुने हुए जितने भी भोग-विषय हैं, उनमें वैराग्य हो जाना 'वशीकार' संज्ञक वैराग्य है । इसी को अपर वैराग्य भी कहते हैं ।

स्त्रियोऽन्नं पानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये वितृष्णस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य, दिव्यादिव्यविषयसम्प्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥15॥

सुन्दरी स्त्री, अन्न अर्थात् खाद्य और पेय पदार्थ, ऐश्वर्य—धन-मान, पद-प्रतिष्ठा; इन दृष्ट विषयों में तृष्णारहित होना तथा स्वर्ग की, विदेह भाव की और प्रकृतिलय भाव की प्राप्ति होने पर तथा वेद-शास्त्र-पुराण प्रतिपादित पारलौकि अदृष्ट भोग-विषयों में तृष्णा अभाव एवं दिव्य अर्थात् देवलोकों स्वर्गादि के सुख-भोगों एवं ऐश्वर्य तथा अदिव्य अर्थात् मानवीय लोक के ऐहिक विषयों के सम्प्रयोग (प्राप्ति) होने पर भी उन सभी विषयों के प्रति वितृष्णा और दुःख-दोष निखरता देखने की जो विशिष्ट ज्ञानात्मक प्रवृत्ति है, जिसे प्रसंख्यान कहते हैं, उसके ज्ञान-बल से भोग के अभावरूप राग-द्वेष, त्याग-ग्रहण शून्य जो चित्त की स्थिति है, वही वशीकारसंज्ञक वैराग्य है ।

योगदीपिका

विषय भोग के विषय दो प्रकार के हैं—1. दृष्ट, 2. आनुश्रविक । दृष्ट वे हैं जो संसार में देखे जाते हैं, जैसे—राज-सुख, रमणी, पद-प्रतिष्ठा, धन-वैभव, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि से सम्बन्धित विविध भोग-विलास की वस्तुएँ । 'आनुश्रविक' वे हैं जो वेद-शास्त्र-पुराणादि में स्वर्गलोक में पाये जाने वाले बताये जाते हैं और सुनकर जाने जाते हैं ।

इन दोनों प्रकार के दिव्य (देवलोकगत) अदिव्य (मानवलोकगत) विविध सुखोपभोगों के प्रति जब 'प्रसंख्यान' संज्ञक ज्ञान के बल से सहज विरक्ति या अरुचि हो जाये, तब 'वशीकार' या 'अपर' संज्ञक वैराग्य से निर्मित चित्तभूमि मानी जायेगी जो 'सम्प्रज्ञात समाधि' की प्रदात्री है । यह 'वशीकार' राग-द्वेष, तृष्णाशून्य चित्त की एक विशेष स्थिति है । इस स्थिति को पाने के लिए सतत अभ्यासपूर्वक साधक को एक विशिष्ट ज्ञानात्मक चिन्तन-प्रवृत्ति जागृत करनी पड़ती है, जिसे 'प्रसंख्यान'

कहते हैं । साधक भावनापूर्वक चिन्तन करता रहे—"भोग रोग के कारण हैं, फिर विषयों की कामना विषयोपभोग की सामग्री प्रदान करते रहने से शान्त भी तो नहीं हो सकती हैं। क्या अग्नि को घृताहुति देने से शान्त किया जा सकता है" ?

न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता: तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा: ।'

—आदि वैराग्यबोधक साहित्य के पठन और चिन्तन से भोगों के प्रति सहज अरुचि उत्पन्न करनी चाहिए ।

यहि तन कर फल विषय न भाई ।
स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदाई ॥ (मानस)

छन्दोबद्ध सार

देखी-सुनी भोग-वस्तुओं के जो अनेक रूप
वही 'दृष्टानुश्रविक' भोग कहलाता है ।
सहज अरुचि उन सभी भोगों में जगे तो
'वशीकार' संज्ञक वैराग्य उर आता है ।
भोगों में उपेक्षा बुद्धि आती तो वैराग्य लाती
राग-द्वेष शून्य, चित्त वशी बन जाता हैं ।
लोक-परलोक के सुखों से हो विरक्त चित्त
साधक 'सम्प्रज्ञात' योगभूमि श्रेष्ठ पाता है ।

❀ परवैराग्य के लक्षण ❀

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥16॥

शब्दार्थ—पुरुषख्याते: = पुरुष के ज्ञान से । गुणवैतृष्ण्यम् = प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाना । तत् = वह । परम् = परवैराग्य है ।

सूत्रार्थ—प्रकृति-पुरुष सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान के हो जाने पर अर्थात् आत्मज्ञान हो जाने पर प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाना 'परवैराग्य' है ।

दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्त: पुरुषदर्शनाभ्यासात् तच्छुद्धि-प्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति । तद्द्वयं वैराग्यम् । तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्, यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं

मन्यते—प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसङ्क्रमः, यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते, मृत्वा च जायत इति । ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् । एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ॥16॥

'दृष्ट' अर्थात् प्रत्यक्ष देखे जाने वाले सांसारिक भौतिक सुख और 'आनुश्रविक' अर्थात् वेदशास्त्र-वर्णित स्वर्गादि लोकों के पारलौकिक सुखों में दोष और दुःख देखने वाला तृष्णाशून्य साधक जब प्रकृति-पुरुष के भेद रूप आत्मज्ञान से मण्डित, सुतृप्त चित्तवाला होकर त्रिगुणमयी प्रकृति के स्थूल-सूक्ष्म स्वरूप वाले गुणों से भी विरक्त हो जाता है, तब इस स्थिति में एक और वैराग्य का जन्म होता है, जिसे 'पर वैराग्य ' कहते हैं । इस प्रकार वैराग्य की दो कोटियाँ हो गयीं—1. अपर वैराग्य, 2. पर वैराग्य । इसमें बाद वाला 'पर वैराग्य' ज्ञान का चरम कोटिक वैराग्य है, जिसके उदय होने पर तत्त्वदर्शी योगी ऐसा मानता है कि प्राप्तव्य प्राप्त हो गया, नष्ट करने योग्य अविद्यादि क्लेश नष्ट हो गये और जन्म-मरण का शृंखलाबद्ध चक्र टूट गया, जिसके टूटे बिना जीव जन्म लेकर मरता और मरकर पुनः जन्म लेता रहता है । यह 'पर वैराग्य' ज्ञान की पराकाष्ठा है । 'कैवल्य' इसी का नान्तरीयक है अर्थात् पर वैराग्योदयोपरान्त ही 'कैवल्य' की प्राप्ति होती है ।

योगदीपिका

अभ्यासपूर्वक साधक जब 'दृष्टानुश्रविक' अर्थात् लौकिक-पारलौकिक सभी प्रकार की विषयासक्ति से सहज मुक्त हो जाता है, तब उसमें पूर्वसूत्र में कथित अपर वैराग्य का जन्म होता है और सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति आती है । इस स्थिति में सत्त्वगुण विद्यमान रहता है । 'गुण' का अर्थ रस्सी होता है । रस्सी रहेगी तो बन्धन रहेगा ही । सत्त्वगुण को हम सोने की रस्सी या हथकड़ी कह सकते हैं, जिससे बन्धन की क्रिया समाप्त नहीं हो सकती । जंजीर चाहे लोहे की हो, चाहे सोने की, बन्धन तो समानरूप से उत्पन्न करेगी । इसलिए वास्तविक मुक्ति के लिए गुणातीत होना पड़ेगा और तीनों गुणों से नाता तोड़ना पड़ेगा । इसी कारण गीता में योगिराज श्रीकृष्ण ने कहा है—

'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।' (गीता 2:45)

'मानस' में गोस्वामीजी कहते हैं—

सुनहु तात सो परम बिरागी ।
तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी ॥ (मानस)

गुणातीत पुरुष ही सर्वथा आप्तकाम या निष्काम हो पाता है । गुणातीत पुरुष के लक्षण गीता में इस प्रकार बताये गये हैं—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ (गीता 14:24)

यह परवैराग्य ही परमवैराग्य है, जिसका फल असम्प्रज्ञात समाधि है । इस स्थिति में अखण्ड सुख-शान्ति की अनवरत वृष्टि होती रहती है । यह साधनजन्य स्थिति है, मानसिक परिवर्तन है, जो बिना वेशविन्यास के देश, जाति, वर्ग, धर्म-सम्प्रदाय से हटकर साधना के वरदान रूप में मिलने वाला सर्वश्रेष्ठ फल है, जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है ।

छन्दोबद्ध सार

परिपक्व साधना में परम वैराग्य आता
शुद्ध बुद्ध चित्त गुणातीत बन जाता है ।
पहचान जाता तब पुरुष स्वरूप शुद्ध
प्रकृति से टूट जाता कष्टपूर्ण नाता है ।
सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों से विमुक्त चित्त
'असम्प्रज्ञात' नामवाली समाधि को पाता है ।
यही 'परवैराग्य' ही आप्तकाम है बनाता
कैवल्य की दिव्य भूमि यही दिखलाता है ।

अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समाधिरिति—

अब दोनों उपायों (अभ्यास, वैराग्य) द्वारा निरुद्ध चित्तवृत्तियुक्त साधक की 'सम्प्रज्ञातसमाधि' किस प्रकार की होती है ? (यह आगे के सूत्र में कथित है—)

⊛ सम्प्रज्ञातयोग के अवान्तर भेदों का कथन ⊛

वितर्कविचारानन्दाऽस्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः ॥17॥

शब्दार्थ—वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् = वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता इन चारों के सम्बन्ध से युक्त । सम्प्रज्ञातः = सम्प्रज्ञात योग है ।

सूत्रार्थ—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपों के सम्बन्ध से जो चित्तवृत्तियों का निरोध है, वह सम्प्रज्ञात समाधि कहलाता है अर्थात् वितर्क के सम्बन्ध से जो समाधि होती है, उसका नाम 'वितर्कानुगत'; विचार के सम्बन्ध से 'विचारानुगत'; आनन्द के सम्बन्ध से 'आनन्दानुगत' और अस्मिता के सम्बन्ध से होने वाली समाधि का नाम 'अस्मितानुगत' सम्प्रज्ञात समाधि है ।

वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो विचारः, आनन्दो ह्लादः, एकात्मिका संविदस्मिता । तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः । द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः । तृतीयो विचारविकलः सानन्दः । चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति । सर्व एते सालम्बनाः समाधयः ॥17॥

चित्त जब स्थूल विषयों को ध्यान का आलम्बन बनाता है, तब विषय का जो आभोग अर्थात् प्रज्ञारूप भावनाविशेष होती है, वह 'वितर्कानुगतसमापत्ति' अर्थात् 'सवितर्क' सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है । जब स्थूल पञ्चमहाभूतों के सूक्ष्मरूप पञ्च तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पर भावना केन्द्रित होती है, तब 'सविचार' सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है । सत्त्व प्रधान प्रकाशशील आनन्द पर भावना का केन्द्रीकरण 'आनन्दानुगत' समाधि है । चित्त में प्रतिबिम्बित होने वाली पुरुष की सत्ता ही 'अस्मिता' है । 'अहं पुरुषोऽस्मि' ऐसा कुछ आभास होना, चित्त और पुरुष में दोनों का एकाकार का भासित होना 'अस्मितानुगत' समाधि है । इन चारों कथित समाधियों में प्रथम 'सवितर्क समाधि' में वितर्क, विचार, आनन्द एवं, अस्मिता, इन चारों का योग रहता है । द्वितीय में वितर्क को छोड़कर विचार, आनन्द एवं अस्मिता, इन तीनों का योग रहता है । तृतीय में वितर्क और विचार को छोड़कर आनन्द और अस्मिता का योग रहता है । चौथी अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में केवल अस्मिता का ही आभास रहता है । ये सारी समाधियाँ आलम्बन युक्त होती हैं, इसमे किसी-न-किसी ध्येय का आलम्बन विद्यमान होता है ।

योगदीपिका

सम्प्रज्ञात योग या समाधि में साधक में मात्र सत्त्वगुण अवशिष्ट रहता है । सत्त्वगुण आनन्द और प्रकाशमय है । इस अवस्था में योगी में सर्वज्ञता आ जाती है, किन्तु कैवल्य की स्थिति अभी नहीं आ पाती है । इसके लिए अपने शुद्ध पुरुष रूप या आत्मस्वरूप ज्ञान के लिए साधक अपने अभ्यास को आगे बढ़ाता है, तब पूर्वोक्त चार समाधियों के रूप में उसे चार पड़ाव असम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचने के लिए पार करने पड़ते हैं । चारों में यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ती जाती है । पहले योगी किसी वस्तु या मूर्ति में चित्त को एकाग्र करने का माध्यम बनाता है । ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों स्थूल सूक्ष्म में परिवर्तित होता जाता है । पदार्थ के सूक्ष्म अवयवों का आभास होने लगता है, पञ्चभूतों के सूक्ष्म रूप उनकी तन्मात्राओं के दर्शन प्रारम्भ हो जाते हैं । एकाग्रता के और अधिक बढ़ जाने पर 'सुखी हूँ' ऐसी दिव्यानन्दानुभूति उमड़ने लगती है । वहाँ दुःख का लेशमात्र नहीं रह जाता है और आगे बढ़ने पर 'मैं मात्र आनन्दरूप हूँ', इसी 'आनन्दोऽस्मि' से 'अस्मिता' की भावना का आभास होता है । यही 'अस्मितानुगत' समाधि है, जो 'सम्प्रज्ञात'

समाधि की चरम स्थिति है। मैं पुरुष हूँ, ऐसा ज्ञान होता अवश्य है, किन्तु यह भी एक चित्तवृत्ति है और सत्त्वगुण का परिणाम है।

आगे बतायी जाने वाली असम्प्रज्ञात समाधि में परवैराग्य के उदय होने पर गुणातीत अहंमन्यताशून्य स्थिति का वर्णन है।

छन्दोबद्ध सार

वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता प्रसार युक्त
सम्प्रज्ञात समाधि योगी साधक लगाते हैं।
धीरे-धीरे ध्यान में पयान करते हैं आगे
स्थूल छोड़ सूक्ष्म की ओर बढ़े जाते हैं।
योग-यात्रा में यहाँ है सूक्ष्मता की ओर जाना
धीरे-धीरे योगी निज चरण बढ़ाते हैं।
गुणातीत होकर कैवल्यरूप पाते योगी
जन्म औ मरण चक्र से वे मुक्ति पाते हैं।

अथासम्प्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किंस्वभावो वेति ?—

अब 'असम्प्रज्ञात समाधि' किन उपायों और किस स्वभाव वाली है, (यह कथन होगा—)

⊛ असम्प्रज्ञात समाधि ⊛

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥18॥

शब्दार्थ—विराम = (सभी) वृत्तियों के निरोध का। प्रत्यय = कारण (जो पर वैराग्य है उसके) अभ्यास पूर्वः = पुनः पुनः अभ्यास से। संस्कार शेषः = संस्कार रूप में शेष रह जाने वाला। अन्यः = दूसरा (असम्प्रज्ञात योग है)

सूत्रार्थ—समस्त चित्तवृत्तियों के निरोध का कारण जो 'परवैराग्य' है, उसके पुनः पुनः अनुष्ठान रूप अभ्यास से चित्तवृत्तियों का उठना तो समाप्त हो जाता है, पर चित्त में पूर्व संस्कार मात्र पड़े रह जाते हैं; ऐसे 'असम्प्रज्ञात योग' विषयक तथ्यों का उल्लेख करते हैं।

सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसम्प्रज्ञातः। तस्य परं वैराग्यमुपायः। सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते। स चार्थशून्यः। तदभ्यादपूर्व-चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञातः ॥18॥

समस्त वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर जहाँ मात्र संस्कार शेष रह जाते हैं, ऐसे निरुद्ध चित्त में उत्पन्न समाधि 'असम्प्रज्ञात' समाधि जानी जाती है। उस असम्प्रज्ञात समाधि का पूर्वोक्त गुण वैतृष्ण्य रूप 'परवैराग्य' ही उपाय अर्थात् साधन है, 'अपर वैराय' नहीं। इस कारण ध्येयरूप आलम्बन अर्थात् आश्रय सहित जो अपरवैराग्य का अभ्यास है, वह असम्प्रज्ञात रूप निरोध समाधि के साधन होने में समर्थ नहीं है; अत: सभी वृत्तियों के निरोध का कारण जो 'परवैराग्य' है और जो ध्येय वस्तु रूप आलम्बन से रहित है, उसे ही असम्प्रज्ञात समाधि का साधन बनाया जाता है। वह असम्प्रज्ञात समाधि ध्येयरूप साधन से विहीन निर्वस्तुक है। उस परवैराग्य के अभ्यास करते-करते चित्त ध्येय वस्तु का आश्रय छोड़कर निराश्रय होता हुआ चित्त-वृत्तियों के प्रति पूर्ण निष्क्रिय होकर चंचलतारूप स्वभाव से शून्य सदृश हो जाता है। इस प्रकार यह निर्बीज समाधि 'असम्प्रज्ञात' कही जाती है।

योगदीपिका

असम्प्रज्ञात समाधि में सभी चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है, मात्र पूर्व संस्कार चित्त में चिपके रहते हैं। अपरवैराग्यजन्य सम्प्रज्ञात समाधि से अभ्यासपूर्वक आगे बढ़ने पर 'परवैराग्य' की स्थिति आती है। इस स्थिति में सत्त्वगुण सहित सभी वृत्तियों का क्षय हो जाता है। यह चित्त की त्रिगुणातीत अवस्था है। यहाँ कर्म शृंखलाजन्यसंस्कार निष्प्रभावी रहते हैं। साधक द्वारा कर्म तो होते हैं, किन्तु वे दग्ध बीज होते हैं। जैसे भुना हुआ बीज अंकुरण में सक्षम नहीं होता, वैसे साधक द्वारा होने वाले कर्म शुभाभुम फल उत्पन्न करने में सक्षम नहीं होते हैं। अपरवैराग्यजन्य सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त को एकाग्र करने के लिए मूर्ति या अन्य किसी स्थूल वस्तु-गत आलम्बन की परतन्त्रता रहती है, किन्तु परवैराग्यजन्य असम्प्रज्ञात समाधि में बाह्य आलम्बन के सहारे की आवश्यकता नहीं रह जाती। समाधि स्वत: लग जाती है। यह भ्रम है कि समाधि प्राप्त योगी समाज से कट जाता है। सच यह है कि योगी की कर्मकुशलता सहस्रों गुना बढ़ जाती है। योगिराज श्रीकृष्ण इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे नर से नारायण अपनी अलौकिक कार्यकुशलता के कारण बने हैं। उन्होंने गीता मे सन्देश दिया है—

'योग: कर्मसु कौशलम्'। (2:50)

अर्थात्—योग ही कर्म में कुशलता लाता है।

बड़े-बड़े शोध, महान् रचनाएँ समाधिवत् एकाग्रता की देन है।

छन्दोबद्ध सार

पर वैराग्य, योग 'असम्प्रज्ञात' लाता
सारी चित्तवृत्ति का निरोधकाल आता है।